नोट—१ *'नाभि सर सोषा'* इति। अ० रा० ११। ५५ एवं आ० रा० १। ११ में पावकास्त्र चलाना कहा है*। और वाल्मी० ११०। २० एवं हनु० १४। ४२ में ब्रह्मास्त्रसे मारना कहा है। मतभेदके कारण मानसकार केवल *'सायक'* पद देते हैं। पर *'सोषा'* पदसे पावकास्त्रका भी भाव इसमें समाविष्ट कर दिया है। अग्निबाण जलको सोख लेता है, यथा—*'लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिष कृसानू॥'* (सुं० ५८)

नोट—२ *'करि रोषा'*। पूर्व बाणोंको 'काल फनीस' कहा, अब यहाँ उनका स्वभाव वा स्वरूप कहा कि रोषयुक्त जा लगे। (फणीश) शेषजीके रोषयुक्त होनेपर अग्निकी ज्वालाएँ उनके मुखोंसे निकलती हैं ही। यथा—*'सेष मुख अनल बिलोके बार बार हैं।'* (क० ७। २०), *'प्रलयपावक महाज्वालमालाबमन।'* (वि० ३८) वैसे ही बाण रोषपूर्वक अग्निज्वालमालायुक्त होकर प्राण हरनेके लिये चले।

नोट—३ *'रुंड महि नाचा'*। (क) नाचना आनन्द जनाता है। पुनः, इस कालमें भी जहाँ-तहाँ देखनेमें आया है कि वीर क्षत्रियोंके सिर कटनेपर उनके रुण्ड नाचते और कुछ देरतक मार-काट करते रहे हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि सामान्य जन्तुमात्रके सिर, अङ्गद (बाजू) आदि काटनेपर जुदा-जुदा नाचते हैं जिसको यमनभाषावेत्ता 'रक्सेजबीही' अर्थात् घायलीनृत्य कहते हैं। अथवा, (ख)—रुण्डका नाचना भी सरके प्रभावसे है, यथा—*'कूदत कबंध के कदंब बंबसी करत धावत दिखावत हैं लाघौ राघौ बान के।'* (क० ६। ४८), **'गतासुर्भ्रमिवेगेण राक्षसेन्द्रोऽपतद् भुवि।'** (अ० रा० ११। ७३) (ग) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'नाचना' आनन्द सूचित करता है। 'धावना' क्रोध सूचित करता है। यहाँ धावना न कह नाचना कहा, क्योंकि रावणको हर्ष हुआ कि मेरा हठ पूर्ण हुआ, यथा—*'तौ मैं जाइ बैर हठि करिहउँ। प्रभु सर मरि भवसागर तरिहउँ॥'* आज मैं मुक्त हुआ, मेरा तामसी शरीर सब पापोंसे निवृत्त हो गया। मानस-मयंककार लिखते हैं कि रामचन्द्रद्वारा मृत्यु होनेसे मङ्गल मृत्यु समझकर नाचता है। वा, वीरताकी सीमा सूचित की।

धरनि धसै धर धाव प्रचंडा। तब सर हति प्रभु* कृत दुइ खंडा॥ ३॥
गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ राम रन हतौं पचारी॥ ४॥

अर्थ—धड़के प्रचण्ड वेगसे दौड़नेसे पृथ्वी धँसने लगी, तब प्रभुने बाण मारकर उसके दो टुकड़े कर दिये॥ ३॥ मरते समय वह बड़े भयावन और कठोर शब्दसे गरजकर बोला कि 'राम कहाँ हैं? मैं ललकारकर समरांगणमें उनको मारूँ'॥ ४॥

नोट—१ पहले धड़का नाचना कहा अब 'धावना' कहते हैं। नाचनेमें पृथ्वी नहीं धसी, प्रचण्ड वेगसे दौड़नेपर धसी। जीवित अवस्थामें साधारण चालसे पृथ्वी हिलती थी, यथा—*'चलत दसानन डोलति अवनी।'* (१। १८२। ५), *'तव बल नाथ डोल नित धरनी।'* (१०३। ५) निर्जीव दशामें धड़के दौड़नेपर धसी।

प० प० प्र०—*'धरनि धसै धर धाव प्रचंडा'* यह चरण ज्यों-का-त्यों कुम्भकर्णके मरणमें भी मिलता है। पुनरुक्ति करनेमें भाव यह है कि वहाँका *'परे भूमि जिमि नभ ते भूधर'* यह वचन रावणके धड़के दो टुकड़ोंके साथ भी ग्रहण करना चाहिये। यह काव्यकला मानसमें अनेक स्थलोंपर प्रयुक्त की गयी है। जिसका कारण है एक तो 'विस्तारसे बचना' पर मुख्यत: द्विरुक्तिसे आवश्यक अर्थको सूचित करना।'

नोट—२ *'गर्जेउ मरत घोर रव भारी'*। 'गर्जन तो मुखसे होता है और सिर तो पूर्व ही कटकर मन्दोदरीके पास गये, रुण्डका गर्जना कैसे बने?', पंजाबीजी यह शंका उठाकर उसका समाधान करते हैं कि 'प्राणसमूहके एक साथ निकलनेका जो शब्द है वही गर्जन है। और *'कहाँ राम.........'* यह वचन उसकी पश्यन्ती, मध्यमा वाणीमें बना हुआ था, शंकरजीने उसका संकल्प लखकर कहा। बाबा हरिहरप्रसाजी लिखते हैं कि 'परा-वाणीसे यह शब्द हुआ। कथा कहनेवाले यहाँ शम्भुभगवान् हैं, वे इस वाणीको समझते हैं अत: उन्होंने कहा और उनके कथनका गोसाईंजीने अनुवाद किया, इससे इन्होंने उसका गर्जना लिखा। सामान्य मनुष्य वैखरी वाणी समझते हैं उनसे जो विशेष हैं, वे पश्यन्ती वाणी समझ लेते हैं। देवताओंकी गति यहाँतक है। परा-

* प्रभु सर हति—(का०)।

वाणी समझनेकी गति भगवान् शम्भु और ब्रह्माजीमें है। इसीसे अवतारहेतु जो वाणी हुई थी वह ये ही समझे थे। अन्य देवता न समझे थे; जब ब्रह्माजीने उन्हें समझाया तब समझे—'*निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह यहै सिखाइ।*' जैसे नृत्यराजशिरोमणिने नृत्यके अन्तमें डमरू बजाया तो उसके अव्यक्त शब्दका महावाक्य आदि, ज्ञानी आदि, पाणिनि आदि और चतुर्दश सूत्र आदिने ग्रहण किया एवं कृष्ण भगवान्‌की बाँसुरीने भी।'

नोट—३ 'किसीका मत है कि सिरोंका कटना कहकर रुण्डकी बात कहने लगे अब फिर सिरोंका ही गर्जना कहते हैं और कोई कहते हैं कि यहाँ कल्पभेदसे कथामें भेद पड़ा उसीको कविने यहाँ दिखाया है। यहाँ रावणमरण दो प्रकारसे दिखाया। किसीमें रावणका सिर काटा गया—'*लै सिर बाहु चले नाराचा*' तथा किसी कल्पमें नहीं काटा गया—'*गर्जेउ मरत घोर रव भारी।*'

☞ मानस-मतानुसार रावण अन्तर्निष्ठ भक्त था। उसका रामप्रति वैरभाव था, वह उसने अन्ततक निबाहा।

डोली भूमि गिरत दसकंधर। छुभित सिंधु सरि दिग्गज भूधर॥ ५॥
धरनि परेउ द्वौ खंड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट समुदाई॥ ६॥

अर्थ—दशकंधरके गिरते ही पृथ्वी हिल गयी, नदी और समुद्र खलबला उठे, दिग्गज और पर्वत क्षुब्ध हो गये॥ ५॥ वह दोनों टुकड़ोंको बढ़ाकर पृथ्वीपर भालु-वानर-समुदायको दबाकर गिर पड़ा॥ ६॥

बं० पा०—मरते समय दोनों खण्ड बढ़ानेका भाव कि मरणपर भी वैरभाव छोड़ दूसरा भाव न होने दिया, पूर्व भाव दृढ़ रखा।

कुम्भकर्ण	रावण
१ '*धरनि धसे धर धाव प्रचंडा।*	'*धरनि धसै धर धाव प्रचंडा।*
तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥'	*तब सर हति प्रभु कृत दुइ खंडा॥*'
'*परे भूमि जिमि नभते भूधर।*	'*धरनि परेउ द्वौ खंड बढ़ाई।*
हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥'	*चापि भालु मर्कट समुदाई॥*'

नोट—१☞कुम्भकर्णका रुण्ड जबतक पूरा रहा तबतक उसमें प्राण रहे, दो खण्ड होते ही पर्वत (जड़) सरीखे गिरे, उनमें शक्ति नहीं रह गयी और रावणके धड़के टुकड़े हुए तब भी उनमें शक्ति रही, इसीसे वहाँ आकाशसे पर्वतके समान गिरना कहा और यहाँ दोनों खण्डोंको बढ़ाके पृथ्वीपर गिरना कहा। यह विशेषता दिखानेके लिये चेतनासूचक '*परेउ*' और '*बढ़ाई*' पद यहाँ दिये।

पुनः कुम्भकर्णके शरीरसे कपि, भालु और निशिचर तीनों दबे। इससे जनाया कि रावणकी पीछेसे भेजी हुई सेना भी वहाँ आ गयी थी; और यहाँ भालु-मर्कटका दाबना कहा; क्योंकि प्रायः निशाचरी-सेना सब मारी गयी। रही-सही जो थी वह अन्तिम युद्धमें भाग ही गयी थी। यथा—'*अति कोप करहिं प्रहार मारत भजि चले रजनीचरा।*'(९९) फिर सेना नहीं आयी। अन्तमें रावण अकेला ही लड़ता रहा था, निशिचर वहाँ रहे ही नहीं इससे उनको दबाना न कहा। '*मैं अकेल कपि भालु बहु माया करउँ अपार*' ऐसा विचारकर उसने '*अंतरहित होइ निमिष महुँ कृत माया बिस्तार।*' (९९) यह अन्तिम साहस उसने किया।

नोट—२ रावणका धड़ नाचा और फिर दौड़ा भी,—'*सिर भुज हीन रुंड महि नाचा*'; कुम्भकर्णका धड़ नाचा नहीं। भेदका भाव यह है कि कुम्भकर्णको निश्चय था कि ये भगवान् हैं, यह समझकर वह प्रथम ही आनन्दमें मग्न होकर युद्धको चला था, यथा—'*राम रूप गुन सुमिरत मगन भएउ छन एक।*' (६२) और, रावणको सन्देह था, '*जौं जगदीस लीन्ह*.........*।*' इससे मरनेपर सन्देह निवृत्त हुआ और वह नाचने लगा। अथवा, इससे रावणका उत्साह अधिक दिखाया।

☞रावणमें मेघनाद एवं कुम्भकर्ण दोनोंके पुरुषार्थ, गुण और बलका एकत्र समावेश था। पाठक स्वयं मिलान करके देख लें। कुछ ही अंश जहाँ-तहाँ मैंने दे दिये हैं।

रा० प्र०—१ 'कुछ भी विशेष प्राणियोंके प्राणप्रयाणसमय अबतक उत्पात देखे-सुने जाते हैं और रावणमें तो इस मानस-ग्रन्थ और वाल्मीकीय रामायण, इतिहास और पुराणोंमें, अनन्वयालङ्कार सिद्ध ही

है। सिंधु आदिका क्षुभित होना कहकर जनाया कि जो मर्यादा कभी नहीं छोड़ते उन्होंने भी मर्यादा छोड़ दी। २—*'परेउ द्वौ खंड बढ़ाई'* का भाव कि मरते समय भी पीछे न हटा, शरीरको आगे बढ़ाकर भालु-वानर-समूहको दाबकर मारा। बढ़ाई=शरीर बढ़ाकर एवं आगे बढ़ाकर।

मंदोदरि आगे भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥ ७॥
प्रबिसे सब निषंग महुँ जाई। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई॥ ८॥

अर्थ—रामबाण रावणके भुजाओं और सिरोंको मन्दोदरीके आगे रखकर वहाँ चले जहाँ जगदीश श्रीरामजी थे॥ ७॥ और सब जाकर तरकशमें प्रवेश कर गये। देवताओंने यह देखकर नगाड़े बजाये॥ ८॥

नोट—१ *'मंदोदरि आगे भुज सीसा।'* इति। मन्दोदरीके सामने रखनेका भाव कि अब देवता और मन्दोदरी जान लें कि रावण मर गया। पंजाबीजीका मत है कि 'इससे देवताओंको सन्देह न रह जायगा, वे विश्वास कर सकेंगे कि अवश्य वह मर गया तभी तो मन्दोदरीके पास सिर भेजा गया। दूसरे, रावणके सम्मान हेतु ऐसा किया जिसमें श्वान आदि न खराब करें।'

बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि मन्दोदरीके पास सिर और भुजाओंको बाणद्वारा भेजनेके कारण ये हैं—'जानकीशोक-प्रतीकारार्थ, हनुमान्‌जी और त्रिजटाके वचनोंके सत्कारार्थ, रावणने शिक्षा न मानी उसका फल जो उसने समझा था उसके निश्चयार्थ एवं यह विश्वास दिलानेको कि अब वह मर गया।' पुनः, भाव कि रावणने मायाके झूठे सिर दिखा-दिखाकर श्रीजानकीजीको रुलाया था, हम सच्चे सिर दिखाते हैं। (बं० पा०) यह भाव वाल्मीकीय आदिके रावणचरितके अनुसार कहा गया है।

नोट—२ पूर्व कहा था कि *'लेइ सिर बाहु चले नाराचा'* तब यह न बताया था कि कहाँ ले गये, अब बताया कि कहाँ ले गये। इससे तब देवताओंने दुन्दुभी न बजायी कि अभी रावणके सिर फिर न हो जायँ, बाण पूर्वकी तरह अब भी उन्हें नभमें लिये जाते होंगे।

नोट—३ *'देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई।'* मन्दोदरीके आगे सिर रखकर फिर तरकशमें प्रविष्ट हुआ देख देवताओंको हर्ष हुआ। भाव कि अब सत्य ही रावण मर गया। पुनः सिर उत्पन्न होनेको होते तो बाण तरकशमें अभी न लौटते। ☞ कार्य करके ही बाण तरकशमें प्रवेश करते हैं, यथा—(१) ***'छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान। सब के देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥ अस कौतुक करि रामसर प्रबिसेउ आइ निषंग॥'*** (१३), (२) ***'जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा। लगे कटन भट बिकट पिसाचा॥'.........'पुनि रघुबीर निषंग महुँ प्रबिसे सब नाराच॥'*** (६७) कुम्भकर्णसे कपिसेनाको विचलित देख निशाचरसेना विविध प्रकारकी आयी थी। उसके नाशके लिये ये बाण एक साथ छोड़े गये थे, वे काम करके लौट आये। तथा यहाँ—(३) ***'लेइ सिर बाहु चले नाराचा।'.......'प्रबिसे सब निषंग महुँ जाई॥'***

तीन ही स्थानोंपर बाणोंका प्रवेश करना लिखा है। खर-दूषणयुद्धमें भी नाराचादिका प्रयोग हुआ पर वहाँ नहीं लिखा है। वाल्मी० १११ में भी तरकशमें प्रवेश करना कहा है। यथा—**'स शरो रावणं हत्वा रुधिरार्द्रीकृतच्छविः। कृतकर्मा निभृतवत्स्वतूणीं पुनरागमत्॥'** (२०; च० सं०)

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥ ९॥
जय जय धुनि पूरी ब्रह्मंडा। जय रघुबीर प्रबल भुजदंडा॥ १०॥
बरषहिं सुमन देव मुनि बृंदा। जय कृपाल जय जयति मुकुंदा॥ ११॥

शब्दार्थ—मुकुन्दा=मोक्ष देनेवाले भगवान्—'मुक्तिं ददाति मुकुन्दः'।

अर्थ—उसका तेज प्रभुके मुखमें समा गया।* शिवजी और ब्रह्माजी देखकर प्रसन्न हुए॥ ९॥ ब्रह्माण्डमें

---

* रावणस्य च देहोत्थं ज्योतिरादित्यवत्स्फुरत्॥ प्रविवेश रघुश्रेष्ठं देवानां पश्यतां सताम्। देवा ऊचुरहोभाग्यं रावणस्य महात्मनः॥' (वाल्मी० ६। ११। ७८-७९)

जयजयकारकी ध्वनि भर गयी। 'प्रबल भुजदण्डोंवाले श्रीरघुवीरकी जय हो!'॥ १०॥ देव-मुनि-वृंद फूल बरसाते हैं और कहते हैं कि 'हे कृपालो! आपकी जय! हे मुकुन्दभगवान्! आपकी जय हो! जय हो!!'॥ ११॥

'तासु तेज समान प्रभु आनन'—'तासु तेज प्रभु बदन समाना।' (७०। ८) देखिये।

करु०—'मुखमें तेज प्रवेश कर जानेका भाव यह है कि कि सारूप्य-मुक्ति पाकर सखारूप होकर परविभूतिको अन्तर्धान करा दिया है। देखिये, कागभुशुण्डिजी श्रीरामजीके मुखमें प्रवेश कर गये थे, फिर निकलकर प्रत्यक्ष हो गये। दूसरा अर्थ यह है कि उसकी आत्माका तेज प्रभुके आननके समान है; सामान्याधिकरण अभेदरूपकालङ्कार है। यह जीव श्रीरामचन्द्रकी मूर्तिका तेज है। नित्य विभूतिमें नित्यजीव मुखमण्डलका तेज है, मुक्त मुमुक्षु वक्षःस्थलके तेज हैं और बद्धजीव कटि जानुनीके तेज हैं। तत्त्वरूप सबका एक है। वा, रावणके बल-प्रतापादि सबका तेज मुखमें समा गया। जैसे परशुरामका तेज समाया था।

मा० म०—अद्वैतमतानुसार वह रामचन्द्रजीमें लीन हो गया और द्वैतमतानुसार यह अर्थ होगा कि उसका तेज श्रीरामचन्द्रजीके बदनके समान हो गया अर्थात् उसने सारूप्य मुक्ति पायी और अन्तमें कविने कहा भी है कि वह धाममें प्राप्त हुआ।

रा० प्र०—जय और विजयको तीन जन्मका शाप था। तब उसकी मुक्ति कैसे होगी? प्रतापी सखा (भानुप्रताप) और जलन्धर जो रावण हुए और वे मुक्त हुए तो *'सीताहरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ। जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥'* यह वचन असत्य होता है। इसका समाधान सारूप्य माननेसे ठीक बनता है; प्रभुने स्वयं दशरथजीसे कहा ही है *'तात कृपा तव पुन्य प्रभाऊ। जीतेउँ……।'*

प० प० प्र०—यद्यपि अद्वैतमतानुसार इसका अर्थ 'सायुज्य मुक्ति होता है तथापि मानसके पूर्वापर वचनोंके समन्वयसे ही अर्थ लेना उचित है। *'सीताहरन तात जनि कहेउ पिता सन जाइ। जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥'* (३। ३१) तथा *'तुम्हहू दियो निज धाम'* (मन्दोदरीवाक्य) ये वचन सायुज्य मुक्तिके विरोधी हैं। इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि रावणको सालोक्य या सामीप्यमुक्ति प्राप्त हुई। वाल्मी० उ० के रावण-सनकादिक तथा रावण-नारद-संवादसे भी इस अर्थकी पुष्टि होती है। तब *'तेज समान प्रभु आनन'* का अर्थ क्या है?

समाधान—इसका अर्थ श्रीहनुमान्‌जीके *'जाकें बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि'* इन वचनोंसे स्पष्ट हो जाता है। **'तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेऽपि'** (अमरकोश), तेज=बल, पराक्रम आदि। **'तेजो धाम्नि पराक्रमे'** इति विश्वः। तेज तपसे होता है, यथा—*'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा'*। रावणको घोर तपश्चर्यासे बल, पराक्रम, प्रभाव और तेज आदि प्राप्त हुए थे, यह भगवान्‌का अंश होनेसे उन्हींमें प्रविष्ट हो गया और रावणको सालोक्य या सामीप्यकी प्राप्ति हुई।

वै०—माधुर्यलीला ज्ञान-देशमें अर्थ इस प्रकार है कि विवेक, विराग, षट्संपत्ति और मुमुक्षुतादि चार साधन हैं। रावणमें ये चारों हैं। *'खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता॥'* यह विवेक है। *'तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥'* यह वैराग्य है। *'होइ भजन नहिं तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥'* यह षट्संपत्ति और *'चला अकेल'* यह मुमुक्षुता है। इत्यादि साधन कर संसार-सुखसे निवृत्त हो वीरतारस ज्ञान धारणकर देहरूप माया आवरण त्यागकर रावणका प्रकाशमय शुद्ध आत्मारूप निकलकर श्रीरामके मुखमें समा गया।

कर्मदेशी अर्थ इस प्रकार है—कर्मका मूल धर्म है। धर्मके आठ अङ्ग हैं—**'इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा। अक्षोभ इति मार्गोऽयं धर्मश्चाष्टविधः स्मृतः॥'** रावणमें ये अष्टाङ्ग सुनिये—समरयज्ञ इज्या, बाणविद्याध्ययन, प्रहारसहन तप, वीरता, सत्य, शूरता, धृति, विमुखवीरको न मारना क्षमा है। अक्षोभ अशंक होकर, रामबाणतीर्थमें प्राणदान किया है। अतः उसका प्रकाशमय शुद्ध जीव प्रभुके धामके आनन-द्वारमें समा गया, धामवास प्राप्त हुआ।

उपासना-देशमें नवधा भक्ति उसने जो की वह यह है—शूर्पणखासे रामचरित सुनना श्रवणभक्ति, *'खरदूषन मोहि सम बलवंता।……'* कीर्तन, *'सुर रंजन भंजन महि भारा।'* स्मरणभक्ति, *'जौं जगदीस लीन्ह अवतारा। ……………हठ करऊँ'* अर्चन, *'मन्त्र दृढ़ एहा'*—सख्य, *'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ'* दास्य और आत्म-निवेदन

है। इसे करके देहसम्बन्ध त्याग प्रभुका सम्बन्धी होकर चला तो उसका तेज प्रभुके मुखके समान देख पड़ा। (इसी तरह ऐश्वर्यमें तीनों देशके अर्थ उन्होंने लिखे हैं। विशेष संगत न समझकर हमने उद्‌धृत नहीं किया।)

वि० त्रि०—जिस कल्पमें भानुप्रताप रावण हुआ, उस कल्पमें ब्रह्मका रामावतार हुआ था। अतः उस कल्पके रावणको सायुज्य मुक्ति मिली। इसीसे उसके तेजका सरकारके मुखमें समाना कहते हैं। भुशुंडिजी सदेह मुखमें प्रवेश कर गये थे, अतः सदेह निकल आये। जैसे कोई जल बोतलमें बंद करके गङ्गामें छोड़ दे तो वह जल फिर निकाला जा सकता है, और यदि बोतलमें बंद नहीं है तो वह गङ्गाजलमें मिल जायगा, निकाला नहीं जा सकता। शेष तीन कल्प, जिनमें वैकुण्ठनाथ तथा क्षीरशायीभगवान्‌के रामावतार हुए थे, उन कल्पोंके रावणोंको धामकी प्राप्ति हुई। यहाँ कल्पभेदसे जो कथामें भेद पड़ा, उसे गोस्वामीजीने दिखाया। इसी भाँति रावण-मरण भी दो प्रकारसे दिखाया गया है। किसीमें रावणका सिर काटा गया (यथा—*'लै सिर बाहु चले नाराचा'*) तथा किसी कल्पमें नहीं काटा गया (यथा—*'गर्जेउ मरत घोर रव भारी'*)।

'हरषे देखि संभु चतुरानन'

☞मुक्ति देख प्रसन्न हुए। शिवजी और ब्रह्माजीका ही हर्ष इससे कहा—कि इन्हीं दोनोंने उसको वर दिये थे। पुनः, शिवजी इसके इष्टदेव थे और ब्रह्माजीके पुत्र पुलस्त्यजीका यह नाती था, अतः मुक्ति देख प्रसन्न हुए। पुनः, अन्य देवतादिको जो प्रसन्नता हुई वह गति देखकर नहीं हुई वरन् उसकी मृत्यु देखकर हुई है अतः उन्हें न कहा।

मा० मु० टी०—अपने स्वामीकी कृपाका प्रवाह देखकर हर्षित हुए। वा, हमने जो वर दिया उसे रघुनाथजीने अंगीकार किया, यह अपनी कृपा (क्रिया) की सफलता जान हर्षित हुए।

पां०—इससे यह जनाया कि जिसके वंशज और जिसके शिष्यकी अगति होती है वह दुःखित होता है।

नोट—१ *'जय रघुबीर प्रबल भुजदंडा।'* इस प्रकार जय बोलते हैं, क्योंकि प्रबल भुजदंडकी वीरतासे ही रावणवध हुआ। इन्द्रादिको भी विजय करनेवाले महाभट रावणका वध इन्होंने किया, अतः यह विशेषण दिया।

नोट—२ *'जय कृपाल जय जयति मुकुंदा'*। ये विशेषण साभिप्राय हैं। *'कृपालु'* का भाव कि हमपर कृपा करके इसका वध किया। *'मुकुंदा'* का भाव कि कृपा करके इसे मुक्ति दी। मोक्षदाता ही मोक्ष दे सकता है। कृपालु ही कृपा कर सकता है। यहाँ 'परिकराङ्कुर अलङ्कार' है।

नोट—३ यहाँ दो अर्धालियोंमें जय-जयकार है। प्रथम रामदलने जय-जयकार किया फिर देवताओंने जय-जयकार किया। अथवा, प्रथम अर्धालीमें दोनोंका जय-जयकार करना कहकर फिर पृथक्-पृथक् कहनेमें प्रथम देवताओंका जय-जयकार कहा और तत्पश्चात् श्रीरामदलका।*

छं०—जय कृपाकंद मुकुंद द्वंद्वहरन सरन-सुखप्रद प्रभो।
खल दल-बिदारन परम-कारन कारुनीक सदा बिभो॥
सुर सुमन बरषहिं हरष संकुल† बाज दुंदुभि गहगही।
संग्राम अंगन राम अंग अनंग बहु सोभा लही॥

* यथा वाल्मी० १०८—'ततो विनेदुः संहृष्टा वानरा जितकाशिनः। वदन्तो राघवजयं रावणस्य च तद्वधम्॥' (२६), अथान्तरिक्षे व्यनदत्सौम्यस्त्रिदशदुंदुभिः।.........' (२७) निपपातांतरिक्षाच्च पुष्पवृष्टिस्तदा भुवि। किरंती राघवरथं दुरवापा मनोरमा॥' (२८), 'आविवेश महान्हर्षो देवानां चारणैः सह।' (३०), ततस्तु सुग्रीवविभीषणादयः सुहृद्विशिष्टाः सहलक्ष्मणस्तथा। समेत्य हृष्टा विजयेन राघवं रणेऽभिरामं विधिनाभ्यपूजयन्।' (३३) अर्थात् वानर रावणवध और रामविजय पुकार-पुकार हर्षसे नाद करने लगे। आकाशमें देवताओंके नगाड़े बजने लगे, और वे रामजीके रथपर फूल बरसाने लगे। देवता और चारण सब बड़े हर्षित हुए। सुग्रीव, विभीषण, अंगद तथा अन्य सुहृदोंसहित लक्ष्मणजी श्रीरामजीकी जीत देखकर प्रसन्न हो रामजीकी स्तुति करने लगे। (च० रा० सर्ग १११)

† सुर सिद्ध मुनि गंधर्व हरषे।

शब्दार्थ—**संकुल**=परिपूर्ण, भरा हुआ, समूह। **विभु**=समर्थ, व्यापक, सर्वगत।

अर्थ—हे कृपारूपी मेघ! हे मोक्षदाता! हे द्वन्द्व (सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि) के हरनेवाले! हे शरणागतको सुख देनेवाले! हे प्रभो! हे दुष्टदलके नाशक! हे सर्वकारणोंके कारण (अशेष कारण परं)! हे सदा करुणा करनेवाले! हे सदा समर्थ एवं विभो! आपकी जय! देवसमूह आनन्दमें भरे हुए फूल बरसाते हैं और धमाधम-घनाघन नगाड़े बज रहे हैं। रणभूमिमें श्रीरामचन्द्रजीके शरीरमें अनेक कामदेवोंकी शोभा प्राप्त है।*

नोट—१ *'परमकारण'*—जहाँतक एक-दूसरेके कारण मिलते हैं ओर फिर जिसका कारण कोई नहीं है, वह परम कारण है। बा० मं० श्लोक ७ *'अशेषकारणपरम्'* देखिये।

नोट—२ *'सदा कारुणीक'*। अर्थात् करुणा त्याग करनेका समय प्राप्त होनेपर भी आप करुणाका त्याग नहीं करते। यथा—*'रहत न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिये की॥'*, *'साहिब होत सरोष सेवकको अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरेउ॥'* (दो० ४७)

पं०—यहाँ 'राम-अङ्ग' की शोभामें 'अनङ्ग' की शोभा कहना सुन्दरतामात्रमें तो बनती है पर इसमें कवीश्वर अवश्य दोष देंगे। इसलिये इसका अर्थ दूसरी प्रकार यों कर सकते हैं कि अनङ्गके भी अङ्गके ये सहायक हैं अथवा, सगुणरूपमें जिनके सब अङ्ग हैं और निर्गुणरूपमें जिनका कोई अङ्ग नहीं या जो अनङ्गके भी अङ्ग हैं, (अर्थात् जो सबके सहायक हैं और जिनका सहायक दूसरा नहीं) उन्होंने बहुत शोभा पायी।

गौड़जी—खरदूषणसे युद्धके प्रसङ्गपर भगवान्‌की मोहिनी छबि देखी गयी है। रावणवधपर भी वही मोहिनी छबि दिखायी। तात्पर्य यह कि यह रणलीला भी भगवान्‌की मोहिनी मायाका खेल था। अनङ्ग भी धनुषबाणसे *'सकल भुवन अपने बस कीन्हें।'* यह बहु अनङ्गकी शोभा लही है। अनंग शब्द भी खास खूबी रखता है। काम न कहकर अनङ्ग इसलिये कहा, जिससे निराकार और साकार दोनों भावोंकी एकता सूचित हो।

छन्द—सिर जटा मुकुट प्रसून बिच-बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं॥
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥

अर्थ—सिरपर जटाओंका मुकुट है, जिसके बीच-बीचमें अत्यन्त मनहरण फूल शोभा दे रहे हैं। मानो नीलगिरिपर बिजलीका समूह नक्षत्रोंसहित शोभित हो रहा है। भुजदण्डोंसे धनुष और बाण घुमा रहे हैं, खूनकी बूँदोंके छींटे शरीरपर अत्यन्त सुन्दर लगते हैं, मानो तमाल-वृक्षपर बहुत-सी ललमुनियाँ अपने बड़े आनन्दमें बैठी हैं।

नोट—१ *'जनु नीलगिरि पर तड़ित·········।'* इति। (क) साँवला नीलवर्ण शरीर नीलपर्वत है, जटाके बाल तड़ितसमूह हैं, यथा—*'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों। मरकतसैल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों॥'* (आ० १८ छन्द) श्वेत फूल नक्षत्र हैं।—यहाँ अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है। (ख) धनुषबाणका फेरना वीररूपमें भूषण है, अतः इसे भी कहा। (ग) *'जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं·········।'* नीलतमालवृक्ष रामजीका श्यामशरीर है, रक्तकण रायमुनिया हैं। रक्तबुंद स्थिर हैं इससे ललमुनियोंके सुखपूर्वक बैठनेकी उपमा दी। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

---

* मिलान कीजिये—'हत्वा युद्धे दशास्यं त्रिभुवनविषमं वामहस्तेन चापं भूमौ विष्टभ्य तिष्ठन्नितरकरधृतं भ्रामयन्बाणमेकम्। आरक्तोपान्तनेत्रः शरदलितवपुः सूर्यकोटिप्रकाशो वीरश्रीबन्धुराङ्गस्त्रिदशपतिनुतः पातु मां वीररामः॥' (अ० रा० ११। ८८) अर्थात् त्रैलोक्यको कठिन दुःख देनेवाले रावणको युद्धमें मारकर वाम हाथसे धनुषको भूमिपर टेके खड़े और दक्षिण हाथमें बाण लिये घुमा रहे हैं। रक्तवर्ण अरुणनेत्र रावणके बाणोंसे चोट खाये हुए शरीरमें करोड़ों सूर्यका प्रकाश है, वीर-श्रीसे शोभित अङ्गवाले देवराज इन्द्रादि देवताओंसे स्तुति किये गये वीरशिरोमणि राम हमारी रक्षा करें।

नोट—२ *'रुधिरकण'।* रावणके शरीरमें बाण लगनेसे जो रक्तबिंदुके छींटे उड़कर श्रीरामजीके अङ्गपर पड़े ये वही हैं। जैसे पक्षी बाहरसे आकर वृक्षपर बैठते हैं, वैसे ही ये रक्तबिंदु बाहरसे उड़कर इनके शरीरपर पड़े हैं। अथवा, (वाल्मीकि० आदिके अनुसार) रावणके बाणोंके लगनेसे शरीरमेंसे जो रुधिर निकला, वही बूँद-सी दीखती हैं।

नोट—३ ☞साधारणतया तो रुधिरकणका शरीरपर होना घृणा उत्पन्न करता है और अशोभित होता है। पर वीररसमें समराङ्गणमें शत्रुपर विजयी होनेपर ये ही रक्तके छींटे वीरकी शोभा हो जाते हैं। वह दूषण ऐसे समयमें भूषणरूप हो जाता है। इसी प्रकार अन्य सब रसोंमें भी दूषण भी भूषणरूप हो जाते हैं। इस छटासे मिलान कीजिये—

'राजत राम काम सत सुंदर।
रिपु रन जीति अनुजसँग सोभित फेरत चाप बिसिष बनरुह कर॥
स्याम सरीर रुचिर श्रमसीकर सोनितकन बिचबीच मनोहर।
जनु खद्योत निकर हरिहित गन भ्राजत मरकत सैल सिखर पर॥
घायल बीर बिराजत चहुँ दिसि हरषित सकल रीछ अरु बनचर।
कुसुमित किंसुकतरु समूह महँ तरुन तमाल बिसाल बिटप बर॥
राजिवनयन बिलोकि कृपा करि किये अभय मुनि नाग बिबुध नर।
तुलसिदास यह रूप अनूपम हृदयसरोज बसि दुसह बिपतिहर॥'
(गीता० ६। १६)

तथा

'श्रोनित छींटछटानि जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछबि छूटी।
मानो मरक्कत सैल बिसाल में फैलि चली बरबीरबहूटी॥' (क० लं० ५१)

नोट—४ अ० रा० में इस छटाको यों कहा है—'**हत्वा युद्धे दशास्यं त्रिभुवनविषमं वामहस्तेन चापं भूमौ विष्टभ्य तिष्ठन्नितरकरधृतं भ्रामयन्बाणमेकम्। आरक्तोपान्तनेत्रः शरदलितवपुः सूर्यकोटिप्रकाशो वीरश्रीबन्धुराङ्गस्त्रिदशपतिनुतः पातु मां वीररामः॥**' (११। ८८) अर्थात् त्रिलोकीके कण्टक रावणको युद्धमें मारकर बायें हाथसे धनुषको पृथ्वीपर टेके खड़े हैं तथा दूसरे हाथसे एक बाण लेकर उसे घुमा रहे हैं, जिनके नेत्रोंके उपान्तभाग कुछ लाल हो रहे हैं, बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुआ शरीर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशित हो रहा है………।

दो०—कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किए सुरबृंद।
भालु कीस सब हरषे* जय सुखधाम मुकुंद॥ १०२॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने कृपादृष्टिकी वर्षा करके देववृन्दको निर्भय किया। सब वानर और भालु प्रसन्न हुए। (और इस तरह जय-जयकार करने लगे कि) हे सुखधाम! हे मुक्तिदाता! आपकी जय हो॥ १०२॥

पं०—देवता तो रावणवधसे ही अभय हो गये थे फिर भी कृपादृष्टि करके अभय करनेमें भाव यह है कि हम तुम्हारे सदा सहायक हैं, वानर-भालु इनके अंश हैं। इससे देवताओंकी प्रसन्नतासे ये भी प्रसन्न हुए। अथवा, प्रभुकी शोभा देख प्रसन्न हुए।

वि० त्रि०—*'बर्षा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी॥'* है। सो यह स्वातीकी अन्तिम वर्षा है, इससे सुरकुलरूपी धानका पूरा मङ्गल हो गया। इसीलिये, इस वृष्टिको कृपादृष्टिकी वृष्टि कहते हैं। *'अभय किए सुरबृंद'* कहकर यह दिखलाया कि वर्षा समाप्त हो गयी, अब धान अभय हो गये, उन्हें सूखाका भय नहीं रह गया। रावण देवतारूपी धानके लिये सूखा (दुकाल) के समान था। यथा—*'यह निसिचर दुकाल सम अहई। कपि कुल देस परन अब चहई॥'*

* हरषे वानर भालु सब—(का०)।

नोट—१ रावणवध होते ही देववृन्दके नगाड़े और जय-जयकारकी ध्वनिमें इनकी ध्वनि न सुन पड़ती थी, अतः इनको पीछे कहा। पुनः, देवता बहुत कालसे पीड़ित थे इससे उनका सुख प्रथम कहा। पुनः, देवता आकाशमें हैं। उन्होंने मन्दोदरीके पास सिर गया प्रथम देखा, इससे उनका हर्ष कहा—*'देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई।'* उनका शब्द सुन वानर-भालुको रावण-मरणका बोध हुआ तब वे भी जय-जयकारमें सम्मिलित हुए। अतः उनको पीछे कहा।

नोट—२ इस प्रसंगमें *'मुकुंद'* शब्द तीन बार आया है। *'जय कृपाल जय जयति मुकुंदा', 'जय कृपाकंद मुकुंद'* और *'जय सुखधाम मुकुंद।'* प्रथम और दूसरी बार देव, मुनि, सिद्धादिके और तीसरी बार वानर-भालुके मुखसे यह शब्द कहा गया। इससे जनाया कि रावणकी मुक्ति देख सबको हर्ष हुआ, इसीसे सभीने यह विशेषण दिया है।

गौड़जी—विशेषणात्मक जितने शब्द आते हैं, वह साभिप्राय होते हैं। *'मुकुंद'* शब्द रावणवधके बाद बराबर दो अभिप्रायोंसे आया है। एक तो यह कि भगवान्‌ने रावण-जैसे पापीको मुक्ति दी, और दूसरे और अधिक विशेषरूपसे सारे विश्वको रावणके बन्धनसे छुड़ाया। बन्धनसे स्वयं मुक्त हो जानेका सबको स्वाभाविक आनन्द है और यही 'मुकुन्द' के जयकारका सबसे प्रबल हेतु है। सुखके धाम बन्धनसे मुक्त करनेवालेकी जय हो! जय हो!! जय हो!!!

राम-रावण-युद्ध और रावण-वध प्रकरण समाप्त हुआ

मन्दोदरी-शोक-प्रकरण

पति सिर देखत मंदोदरी। मुरुछित बिकल धरनि खसि परी॥ १॥
जुबतिबृंद रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं॥ २॥

अर्थ—पतिका सिर देखते ही मन्दोदरी व्याकुल और मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी॥ १॥ और नारियाँ भी रोती हुई उठ दौड़ीं और उसको उठाकर रावणके पास आयीं॥ २॥

नोट—१ (क) सिर और भुजाओंको देखकर मन्दोदरी व्याकुल हो मूर्च्छित हो गयी। मूर्च्छामें कहीं प्राण न निकल जायँ, यह डरकर अन्य सब स्त्रियाँ उसे रणभूमिमें लायीं जिसमें रावणके शवको देखकर वह रो उठे, उसके हृदयका दुःसह्य शोक अश्रुपातद्वारा कम हो जाय तो प्राण छूटनेका भय न रहेगा। ये सब युवतिवृन्द रानियाँ हैं। यथा—*'देव जच्छ गन्धर्ब नर-किंनर नाग-कुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि॥'* (बा० १८२) और इनके साथ इनकी खवासें (दासियाँ) भी होंगी। भागवतमें हजारों राक्षसियोंका साथमें आना कहा है वैसे ही यहाँ कविने कहा, परिचय न दिया, यथा—**'ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्यः सहस्रशः। मन्दोदर्या समं तस्मिन्प्ररुदत्य उपाद्रवन्॥'** (९। १०। २४) अर्थात् तब हजारों राक्षसियाँ लङ्कासे निकलकर मन्दोदरीके साथ विलाप करती हुई उसके पास आयीं। (ख) *'तेहि उठाइ'* से जनाया कि मूर्च्छित दशामें उठा ले आयीं। उसकी मूर्च्छा अभी नहीं जगी है। अन्य रानियाँ मूर्च्छित नहीं हैं। इससे यह भी दिखाया कि अन्य स्त्रियाँ वैसी पतिव्रता न थीं।

पं०—रणभूमिमें सबके आनेका कारण कि—(क) सिर-भुज देखकर अत्यन्त शोक हुआ है, अब शरीर भी देख लें। वा, (ख) पूर्व इसके कटे सिर पुनः उत्पन्न हो जाते थे, कहीं अब भी वैसे ही न हो गये हों, यह देखने आयीं। वा, (ग) विचारा कि जिनके सङ्गसे हम रानियाँ थीं, जब वह ही न रहा तब हम भी क्यों न खूब रो-पीट लें (प्राण छोड़ दें)। या (घ) जब रामदलने हमारे केश पकड़ हमें महलसे निकाल नंगी कर दिया था तब अब पतिके मरनेपर हम रणभूमिमें उसके पास जानेमें क्यों लज्जा करें, यह समझ लज्जा छोड़ यहाँ आयीं।

रा० प्र०—अब मरनेपर भी रुला रहा है। अतः 'रावण' नाम दिया।

प० प० प्र०—*'पति सिर देखत……'* इति। प्रथम चरणमें मात्राकी कमीसे मन्दोदरीका उसी क्षण व्याकुल होना जनाया और दूसरे चरणमें मात्रा न्यून करके जनाया कि देखनेवाले उसके पतिप्रेमको देखकर अवाक् हो गये कि इतना पापी होनेपर भी उनका दानवकन्या होनेपर भी यह पतिप्रेम सराहनीय है।

पति गति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपु* सँभारा॥ ३॥
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥ ४॥

अर्थ—पतिकी दशा देखकर चिल्लाती हैं। बाल खुले हैं, शरीरका सँभाल नहीं है॥ ३॥ वे अनेकों प्रकारसे छाती पीटती हैं और रोती हुई उसके प्रतापको बखान करती हैं॥ ४॥

नोट—१ 'छूटे कच नहिं……' यह शोककी दशा है, शोकमें लज्जा नहीं रह जाती। यथा—'*सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥*' (२। २७६। ७), '*छूटे केस न देह सँभारा।*' (४। ११। २) जो चोटी अनेक रत्नोंसे सजायी जाती थी, वह आज लथड़ रही है। नोट—२ '*करहिं प्रताप बखाना।*' क्या प्रताप बखान करती हैं, यह कवि आगे लिखते हैं। पुनः, यथा—हनुमन्नाटक—'**एकेनैव समुद्धृतो हरगिरिर्द्वाभ्यां त्रिलोकी जिता यस्याष्टादशभिर्भुजैरवसरः शस्त्रस्य नासादितः। सोऽप्येनं द्विभुजं मनुष्यमहह क्रव्यादवीरो रिपुं प्राप्य व्यर्थभुजो रणे विनिहतो दैवाय तस्मै नमः॥**' (१४। ४५) अर्थात्—जिसके एक ही हाथसे शिवजीका कैलाश उठाया गया, दो हाथोंसे त्रैलोक्य जीता गया और जिसके शेष १८ भुजाओंमें शस्त्र ग्रहणका अवसर ही कभी न प्राप्त हुआ था, वही दो भुजावाले मनुष्य शत्रुके प्राप्त होनेपर व्यर्थ-भुजा होकर रणमें मारा गया। कैसे खेदकी बात है! जिस दैवकी प्रेरणासे यह हुआ, उसे नमस्कार है।

तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी॥ ५॥
सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥ ६॥

शब्दार्थ—तरनी=(तरणि) सूर्य।

अर्थ—हे नाथ! तुम्हारे बलसे पृथ्वी नित्य काँपती रहती थी। अग्निदेव, चन्द्रमा और सूर्य तुम्हारे सामने तेजहीन थे॥ ५॥ शेष और कच्छप जिसका भार न सह सकते थे, वही तुम्हारा शरीर आज धूलमें भरा हुआ पृथ्वीपर पड़ा हुआ है॥ ६॥

नोट—१ '*डोल नित धरनी*', यह प्रताप है। '*जासु चलत डोलति इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी॥*' (२५। ७) '*सोइ रावन जग बिदित प्रतापी।*' देखिये। नोट—२ '*तेजहीन पावक ससि तरनी।*' अग्नि, चन्द्र और सूर्य—ये तीनों तेजोमय हैं। अतः तेज बखान करनेमें इन्हींको कहा। ये लोकपाल हैं और रावणके वशवर्ती थे, सब उससे डरते थे, नित्य हाजिरी देते थे, यथा—'***दसमुख सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥ कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥***' (५। २०) और उसके अनुकूल ही तप्त वा शीतल होते थे। अतः '*तेजहीन*' कहा। ७ (२), ८ (३-४) देखिये।

नोट—३ '*सो तनु भूमि परेउ भरि छारा।*' भाव कि तुम तेजस्वी और प्रतापी होते हुए आज इस कंकड़ीली रुधिरयुक्त रजवाली पृथ्वीपर कैसे पड़े हो, तुम्हें तो अमूल्य बिछौनेपर लेटना चाहिये था? यथा—'**शयनेषु महार्हेषु शयित्वा राक्षसेश्वरः॥ इह कस्मात्प्रसुप्तोऽसि धरण्यां रेणुगुण्ठितः।**' (वाल्मी० १११। ५६-५७)

बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सन्मुख धर काहु न धीरा॥ ७॥
भुजबल जितेहु काल जम साँई। आजु परेहु अनाथ की नाई॥ ८॥

अर्थ—वरुण, कुबेर, इन्द्र और पवन ये कोई भी रणमें तुम्हारे सामने धैर्य धारण न कर सकते थे (अर्थात् इनका धीरज छूट जाता था, ये रणमें भाग जाते थे)॥ ७॥ हे स्वामिन्! तुमने अपने बाहुबलसे काल और यमराजको भी जीत लिया था, परन्तु आप स्वयं अनाथकी तरह पड़े हो॥ ८॥

नोट—१ (क) 'अग्नि, शशि और सूर्य' तीन लोकपालोंको तेजके सम्बन्धसे पहले एक साथ कह आये अब शेष पाँचको यहाँ कहते हैं। (ख) '*रन सन्मुख धर काहु न धीरा*' यथा—'***सब सुर जिते एक दसकंधर।***' (९५। ७) '*काहु न*' पद अन्तमें देकर गन्धर्व, ऋषि, दैत्य और दानवादि सभीको सूचित कर दिया। वाल्मी० ११० श्लोक ११—१६ में यही भाव विस्तारसे यों दिया है—जिसने इन्द्रको और यमको

* 'छूटे चिकुर न सरीर सँभारा।'—(का०)। चिकुर=चोटी, जूड़ा।

त्रस्त किया, कुबेरको पुष्पक-विमान-रहित कर दिया और गन्धर्व, ऋषि, देवता और महात्माओंको रणमें भय दिया वह युद्धमें मारा हुआ सो रहा है। जिसे दैत्यों, देवताओं और पन्नगोंसे भी भय न था उसको मनुष्यसे यह मरणरूप भय! जो देवताओं, दानवों और राक्षसोंसे अवध्य था, वही पैदल मनुष्यसे रणमें मारा गया सो रहा है! जो देवताओं, यक्षों और असुरोंसे भी मारे जानेको शक्य न था, वही निर्जीवकी तरह मनुष्यसे मृत्युको प्राप्त हुआ।', 'इन्द्रादि तुम्हारे सम्मुख खड़े न रह सकते थे तब तुमको मनुष्यसे मारे जानेमें लज्जा क्यों नहीं लगती जो उठ खड़े नहीं होते।' (१११। ३)

नोट—२ राजा मरुत्तके यज्ञमें ये सब देवता थे। रावणने वहाँ पहुँचकर ललकारा। सब देवताओंने पक्षियों, पशुओंका रूप धरकर प्राण बचाये, कोई सम्मुख न हुआ। इन्द्र मोर, वरुण हंस और कुबेर गिरगिट बने।

नोट—३ *'भुजबल जितेहु काल जम साँई'* इति। (क) काल और यमको सबसे पृथक् कहा। कारण कि कालको कोई नहीं जीत सकता। पुनः, (ख) कालको कुछ योगी लोग योगबलसे जीत भी लेते हैं, पर शरीरके बलसे नहीं जीत सकते और तुमने भुजबलसे जीता, यह प्रताप है। विशेष—***बरुन कुबेर पवन जम काला। भुज बल जितेउँ सकल दिगपाला॥ देव दनुज नर सब बस मोरे।*** (८। ३-४) में देखो। पुनः, (ग)—भाव कि तुमने कालको जीत लिया था तब आज कैसे मृत्युको प्राप्त हुए। यथा—(वाल्मी० १११। ४८)—**'त्वं मृत्योरपि मृत्युः स्याः कथं मृत्युवशं गतः।'** अर्थात् तुम तो मृत्युके भी मृत्यु थे, तब मृत्युके अधीन कैसे हुए?

नोट—४ *'अनाथ की नाईं।'* अर्थात् कोई उठानेवाला भी नहीं है, कोई सम्बन्धी या सहायक भी नहीं है। बिना श्रीरामजीकी आज्ञाके कोई यहाँसे उठा भी नहीं ले जा सकता। यथा—**'कालेन विश्वविजयी दशकन्धरोऽभूद्भर्गाचलोद्धरणचञ्चलकुण्डलाग्रः। संस्कारमग्निदहनाय स एष कालश्चाज्ञां विना रघुपतेः प्लवगैर्निरुद्धः॥'** (हनु० १४। ४७) अर्थात् भर्गाचलके उठानेके समय जिसके कुण्डल चञ्चल थे, वह रावण कालसे ही विश्वविजयी हुआ था। अब वह समय आ प्राप्त हुआ है कि अग्निदाह-संस्कार करनेके निमित्त श्रीरामजीकी आज्ञा पानेतक वानरोंने उसे रोक रखा है।

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन बल बरनि न जाई॥ ९॥
राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल* रोवनिहारा॥ १०॥

अर्थ—तुम्हारी प्रभुता तो संसारभरमें प्रसिद्ध है। तुम्हारे पुत्रों और कुटुम्बियोंका बल वर्णन नहीं हो सकता॥ ९॥ श्रीरामचन्द्रजीसे विमुख (प्रतिकूल, द्रोही, वैर) होनेसे तुम्हारी ऐसी दशा हुई कि कुलमें कोई (वा कोई कुल एवं किसी कुलमें कोई) रोनेवाला भी न रह गया†॥ १०॥

☞ तात्पर्य कि कैसा ही ऐश्वर्य और प्रताप क्यों न प्राप्त हो, सब सांसारिक सुख भी क्यों न प्राप्त हों; त्रैलोक्य-विजयी भी क्यों न हो, तब भी यदि प्राणी रामविमुख है तो ये सब व्यर्थ हो जाते हैं।

नोट—***'रहा न कोउ कुल·······'*** से जनाया कि रावणने लङ्काभरके सब निशिचरोंको लड़ाईमें जुझवाकर सबकी मुक्ति करा दी। सब स्त्रियाँ विधवा हो गयीं। इसीसे कोई पुरुष रोनेवाला न रह गया। यथा—**'कृतैषा विधवा लङ्का वयं च कुलनन्दन'** (भा० ९। १०। २८)। मन्दोदरी कहती है कि तुमने लङ्काको और हमको विधवा कर दिया। पुनः, यथा—**'त्वया कृतमिदं सर्वमनाथं राक्षसं कुलम्'**—(वाल्मी० १११। ७३) अर्थात् तुमने यह सब राक्षसोंका कुल अनाथ कर दिया। र० प्र० कार यह भाव लिखते हैं कि रोनेवाला न रह गया, सब हँसनेवाले ही रह गये। विभीषण तो कुलमें था तब *'रहा न कोउ कुल·······'* कैसे कहा?

---

* कोउ कुल।

† 'जातिर्ब्रह्मकुलेऽग्रजो धनपतिर्यः कुम्भकर्णोऽनुजः पुत्रः शक्रजयी स्वयं दशशिराः पूर्णा भुजां विंशतिः। दैत्याः कामचरा रथश्च विजयी पारे समुद्रं गृहं सर्वं निष्फलितं तथैव विधिना दैवे बले दुर्बले॥' (हनु० १४। ४६) अर्थात् जिसका ब्राह्मणकुलमें जन्म हुआ, कुबेर जिसके बड़े भाई और कुम्भकर्ण छोटा भाई, इन्द्रजीत जिसका पुत्र, स्वयं दश सिर और पूरी २० भुजावाला, जिसके दैत्य कामरूप, रथ विजय प्राप्त करनेवाला एवं समुद्रपार जिसका घर, ऐसे भी रावणको प्रारब्धके दुर्बल होनेसे विधाताने सभी व्यर्थ कर दिया।

यह शङ्का उठाकर करुणासिन्धुजी आदिने इसके कई तरह समाधान ये किये हैं—

(१)—विभीषणजी वंशमें थे पर रामशरणमें जानेपर वे इस समय द्रोहभावके कारण कुलसे बाहर हैं। वे तो अब राजा होंगे, वे क्यों रोने लगे? मन्दोदरीका ऐसा कहना अस्वाभाविक नहीं है। कुलमें, लङ्कामें कोई न रह गया जो अपना समझकर रोता। वा, (२)—*'रहा न कोउ कुल'* से कुलके उन सब लोगोंसे तात्पर्य है जिन्हें ऊपर गिनाया है—*'सुत परिजन बल बरनि न जाई।'* वा, (३) *'कोउ कुल'*=कोई वंश न रह गया, किसी कुलमें कोई न रह गया (तब रोवे कौन?) वा, (४) रोना तुम्हींतक था। तुम परद्रोहरत थे, सबको रुलाते थे, अब कौन ऐसा है जो 'किसी कुलको रुलायेगा और क्यों कोई रोवेगा'—(करु०)। (५) बाबा हरीदासकृत एक समाधान यह है कि *'रोवनिहारा'* को रावणका सम्बोधन मान लें क्योंकि रावणका अर्थ है रोनेवाला और यह नाम उसके रोनेपर ही शिवजीने रखा था। अर्थ यह होगा कि 'हे रोनेवाले'! कुलमें कोई न रह गया। (इनमें प्रथम दो भाव संगत जान पड़ते हैं, अन्य नहीं।) (६) विभीषण प्रभुकी शरणमें आनेसे अब वे प्रभुके गोत्रके हो गये। वैष्णव होते ही गोत्र बदलकर अच्युत गोत्र हो जाता है—*'स्वामीको गोत गोत होत है गुलामको।'* विभीषण सत्य ही अब रावणके कुलके न रह गये। अत: मन्दोदरीका कथन सत्य ही है कि कुलमें कोई रोनेवाला न रह गया।

तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिं माथा॥ ११॥

अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥ १२॥

काल बिबस पति कहा न माना। अगजगनाथ मनुज करि जाना॥ १३॥

अर्थ—हे नाथ! तुम्हारे वशमें तो सब ब्रह्मसृष्टि थी, लोकपाल भयभीत होकर नित्यप्रति प्रणाम करते थे॥ ११॥ अब तुम्हारे सिर और भुजाओंको गीदड़ खाते हैं। (यह कैसे हुआ? फिर स्वयं समाधान करती है कि) रामद्रोहीके लिये यह अनुचित नहीं है (ऐसी दशा होना योग्य ही है)॥ १२॥ हे पति! कालके पूर्णवश होनेसे तुमने किसीका कहना न माना और चराचरके स्वामीको मनुष्य करके समझा॥ १३॥

नोट—१ (क) *'अब तव सिर………'* इति मिलान कीजिये—'**इह खलु विषमः पुराकृतानां भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः। शिवशिरसि शिरांसि यानि रेजुः शिवशिव तानि लुठन्ति गृध्रपादैः॥**' (हनु० १४। ४९) अर्थात् यह निश्चय है कि इस जगत्‌में पूर्वकृत विषम कर्मोंका फल अवश्य मिलता है। हा हा! वही सिर जो शिवजीके मस्तकपर शोभित हुए थे ये ही गृध्रोंके चरणोंके तले लोटते हैं। पुनश्च, '**देहः कृतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे**' (भा० ९। १०। २८) अर्थात् आपने शरीरको गृध्रोंका भक्ष्य बना दिया और स्वयं नरक कमाया। (ख) *'राम बिमुख………'* इति। यथा—'**हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः। तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः॥**' (भा० ११। ५। १८) अर्थात् भगवद्विमुख लोग इच्छा न होनेपर भी बरबस अपने परिश्रमसे प्राप्त किये हुए घर, सन्तान, सुहृद् और श्री—इन सबको यहीं छोड़कर अन्धकार (नरक) को प्राप्त होते हैं।

नोट—२ (क) *'कहा न माना।'* भाव कि जितने सुहृद, हितके चाहनेवाले और भाई थे, उनका भी हित, हेतु और अर्थयुक्त वाक्य न माना और न मेरा ही। इसीका यह फल मिला*। क्या कहा न माना, सो उत्तरार्द्धमें कहती हैं। (ख) *'अगजगनाथ मनुज करि जाना'* इति। भाव कि मैंने एवं उन सबोंने कहा था कि राम मनुष्य नहीं हैं, चराचरके ईश हैं, इनसे विरोध न करो।

१ मारीच—*'तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर रूप चराचर ईसा॥ खरदूषन तिसिरा बधे मनुज कि अस बरिबंड।'* (३। २५)

२ विभीषण—*'तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥'* (५। ३९। १)

३ प्रहस्त—*'जेहि बारीस बँधाएउ हेला। उतरेउ सेन समेत सुबेला॥ सो भनु मनुज खाब हम भाई। ………'* (९। ५-६)

---

* 'सुहृदां हितकामानां न श्रुतं वचनं त्वया। भ्रातृणां चैव कार्त्स्न्येन हितमुक्तं दशानन॥ हेत्वर्थयुक्तं विधिवच्छ्रेयस्करमदारुणम्। विभीषणेनाभिहितं न कृतं हेतुमत्त्वया॥ मारीचकुम्भकर्णाभ्यां वाक्यं मम पितुस्तथा। न कृतं वीर्यमत्तेन तस्येदं फलमीदृशम्॥' (वाल्मी० १११। ७६—७८)

४ मन्दोदरी—'*कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥ विश्वरूप रघुबंसमनि करहु........।*' (१४), '*पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अगजगनाथ अतुल बल जानहु॥*' (३५। ८), '*तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू।........अहह कंत कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥*' (३६। ५-६) पुनः, यथा—'**यदैव हि जनस्थाने राक्षसैर्बहुभिर्वृतः॥........ खरस्तु निहतो भ्राता तदा रामो न मानुषः........॥ प्रविष्टो हनुमान्वीर्यात्तदैव व्यथिता वयम्। क्रियतामविरोधश्च राघवेणेति यन्मया॥ उच्यमानं न गृह्णासि तस्येयं व्युष्टिरागता।........॥**' (वाल्मी० ६। १११। १६—१९) अर्थात् जिस समय बहुत राक्षसोंसमेत तुम्हारा भाई खर मारा गया, तभी यह निश्चय हो गया कि राम मनुष्य नहीं हैं। पुनः जिस समय देवताओंसे भी दुष्प्रवेश्य लङ्कापुरीमें हनुमान्‌ने प्रवेश किया, उसी समय हम सबने दुःखी होकर कहा था कि राघवके साथ विरोध न करो, यह हमारा वचन तुमने न ग्रहण किया, उसीका यह सब फल है।

५ माल्यवंत—'*हिरन्याक्ष भ्राता सहित मधुकैटभ बलवान। जेहि मारे सोइ अवतरेउ॥*' (४७)

६ कुम्भकर्ण—'*हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥........*' (६२। ३)

'*मनुज करि जाना।*' भाव कि मनुज हैं नहीं, पर तुमने मनुष्य ही करके माना।—दो० ८४ (२) देखिये।

वीरकवि—पतिके मृतक होनेसे मन्दोदरी आदि रानियोंके हृदयमें शोक स्थायीभाव है। रावणके शरीरका दर्शन आलम्बन विभाव है। वीरतादि गुणोंका स्मरण उद्दीपन विभाव है। रोना, छाती पीटना, धरतीपर गिरना अनुभाव है। वह मोह, विषाद, चिन्तादि संचारी भावोंद्वारा पुष्ट होकर 'करुणरस' हुआ है।

छं०—जान्यो मनुज करि दनुज कानन दहन पावन हरि स्वयं।
जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिय भजेहु नहिं करुनामयं॥
आजन्म ते परद्रोहरत पापौघमय तव तनु अयं।
तुम्हहूँ दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं॥

अर्थ—दैत्यरूपी वनके जलानेको अग्निस्वरूप स्वयं भगवान् साक्षात् परब्रह्मको तुमने मनुष्य करके जाना। शिव-ब्रह्मादि देवता जिनको नमस्कार करते हैं, उन करुणामय भगवान् रामचन्द्रका, हे प्रिय! तुमने भजन न किया। तुम्हारा यह शरीर जन्मसमयसे (मरणपर्यन्त) उनके विरोध और परद्रोहमें लगा हुआ और समूह-पापमय रहा, परन्तु ऐसे तुमको भी जिन निर्विकार ब्रह्म श्रीरामजीने अपना धाम दिया, उनको मैं नमस्कार करती हूँ।

नोट—१ '*दनुज कानन........।*' ऐसा ही माल्यवन्तने रावणको समझाया। यथा—'*कालरूप खल बनदहन गुनागार घनबोध। सिव बिरंचि जेहि सेवहिं तासों कवन बिरोध॥*' (४८) दनुजपर वनका आरोप किया, अतः हरिपर पावकका आरोपण किया गया।

पु० रा० कु०—'*हरि स्वयं*'=साक्षात् परब्रह्म, जैसा आगे कहती हैं—'*राम ब्रह्म निरामयं*'। दोहा ४७ देखो। '*निरामय*' का भाव कि तुम पापी हो, तो भी तुमको ग्रहण करनेसे वे मलिन नहीं हो सकते।

नोट—२ '*जेहि नमत सिव ब्रह्मादि........।*' (क) शिव संहार करनेवाले और ब्रह्मा सृष्टि—उत्पन्न करनेवाले हैं अर्थात् जिनके हाथ जन्म-मरणका अधिकार है, वे भी उनके सेवक हैं। इन दोनोंसे बड़ा कोई और देवता नहीं है, जब ये ही उनकी सेवा करते हैं और तुम इन्हींके बनाये और इन्हींके वरसे इतने बलवान् हुए हो तब तुम्हें भी उनके स्वामीको अपना स्वामी मानकर उनका भजन करना चाहिये था। '*सिव बिरंचि जेहि सेवहिं।*' (४८), '*सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।*' (६२। ५) देखिये। (ख)—'*भजेहु नहिं करुनामयं।*' शिवादि नमस्कार करते हैं, यह कहकर उसका कारण कहती हैं कि वे 'करुणामय' हैं, सेवकका दुःख देख तुरन्त द्रवीभूत होते हैं, यथा—'*करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराईं॥*' (२। ८५। २) यह समझकर उनको भजते हैं। सबका दुःख देखकर उन्होंने अवतार लिया। पुनः, पापौघमय होनेपर भी मुक्ति दी; अतः '*करुनामय*' कहा, यथा—'*उमा राम मृदुचित करुनाकर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥*' (४४। ४)

नोट—'*आजन्म ते परद्रोहरत ......*' इत्यादि कहकर '*तुम्हहु दियो निजधाम*' कथनका भाव कि पापीकी गति नहीं होती; पर तुम्हारे पापोंको छुड़ाकर तुमको मुक्ति दी, यथा—'**रामेण निहतश्चान्ते निर्धूताशेषकल्मषः।**

रामसायुज्यमेवाप रावणो मुक्तबन्धनः॥' (अ० रा० ११। ८६) अर्थात् अन्तकालमें श्रीरामद्वारा वध होनेसे, समस्त पाप विनष्ट हो जानेसे कर्मबन्धनसे छूटकर श्रीरामजीकी सायुज्य मुक्तिको प्राप्त हुआ।

☞ निजधाम देनेमें 'ब्रह्म निरामय' विशेषण दिया। भाव कि वे ब्रह्म हैं, उनका एकरस अखण्ड ज्ञान है ***'ज्ञान अखंड एक सीता बर।' 'जो सबके रह ज्ञान एकरस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥'*** इसीसे वे निर्विकार हैं, उनमें राग-द्वेषादि विकार नहीं हैं। यह कैसे जाना? इससे कि तुमको भी मुक्ति दी, यदि द्वेष होता तो ऐसे महापापीको मुक्ति कदापि न देते।

दो०—अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं* आन।
जोगिबृंद दुर्लभ गति† तोहि दीन्हि भगवान॥१०३॥

अर्थ—अहह! (बड़े खेद और शोककी बात है कि ऐसे कृपासिन्धुका अनादर तुमने किया।) हे नाथ! श्रीरघुनाथजीके समान दूसरा कोई कृपासिन्धु नहीं है। योगिसमाजको भी जो गति बड़ी कठिनतासे प्राप्त होनेवाली है, वह गति तुमको भगवान् रामचन्द्रजीने दी॥ १०३॥

नोट—१ *'कृपासिंधु नहिं आन।'* करुणामय निर्वाह अभीतक करती जाती है। करुणामय हैं, इसीसे कृपा करते हैं। करुणा हो और कृपा न हो तो करुणा व्यर्थ है, इसीसे ***'कृपासिंधु'*** कहा। ***'नहिं आन'***, यथा—***'प्रभु छाँड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम'*** (आ० २); अधमोंको गति कृपासे ही देते हैं। ***'परद्रोहरत पापौघमय'*** को गति दी अतः ***'कृपासिंधु'*** कहा। यथा—***'कोमलचित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥ गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाँचत जोगी॥'*** (३। ३३। १-२), ***'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाँचत जोगी॥ उमा राम मृदुचित करुनाकर। बैरभाव मोहि सुमिरत निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥'*** (४४। ३—५)

नोट—२ ***'जोगिबृंद दुर्लभ'*** इति। (क)—यह स्वयं रघुनाथजीने शबरीसे कहा है, यथा—***'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥'*** (३। ३६। ८) शबरीको जो गति दी, वही रावणको दी है। वह ***'हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे'*** वैसे ही रावणको अपनेमें लीन कर लिया। यह भाव अन्य कल्पों तथा अ० रा० के अनुसार हुआ, जहाँ 'सायुज्य मुक्ति' हुई हो। (ख)—***'दुर्लभ'*** का भाव कि सबको मिलती नहीं और जिन्हें मिलती है वह भी बड़ी कठिनाईसे, यथा—***'गति पाई जो मुनिवर पाव न।'*** पूर्व ४४ (३) ***'पावहिं गति जो जाचत जोगी'*** देखिये। मान-मोहरहित, सङ्गदोषजित, अध्यात्मनिष्ठ, निष्काम और द्वन्द्वविमुक्त लोग ही योगी हैं। वे अविनाशी पदको पाते हैं। ***'निज धाम', 'परम गति', 'गति जो जाचत जोगी।'*** मानसके मतानुसार पर्याय हैं। दुर्लभका भाव कि ४४ (३) में आ चुका है।

नोट—३ ***'गति दीन्हि भगवान।'*** (क)—गति देनेमें भगवान् कहा। क्योंकि भगवान् ही जीवोंको गति या अगति देते हैं। ***'कृपासिंधु भगवान'*** दोहा ४७ देखिये। पुनः, (ख)—करुणा हो, कृपा हो, पर दुःख हरनेका सामर्थ्य न हो तो करुणा आदि भी व्यर्थ हैं, अतः ***'भगवान'*** पद देकर जनाया कि करुणा होनेपर कृपा करके तुरन्त कष्ट हरकर सुख देते हैं।

मंदोदरी बचन सुनि काना। सुर मुनि सिद्ध सबन्हि सुख माना॥१॥
अज महेस नारद सनकादी। जे मुनिबर परमारथ बादी॥२॥
भरि लोचन रघुपतिहि निहारी। प्रेम मगन सब भए सुखारी॥३॥

अर्थ—मन्दोदरीके वचन कानोंसे सुनकर देवता, मुनि और सिद्ध सभीने सुख माना॥ १॥ ब्रह्मा, महेश, नारद, सनकादि ऋषि और भी जो परमार्थके जाननेवाले मुनिश्रेष्ठ हैं, वे सब रघुनाथजीको नेत्रभर देखकर प्रेममें डूब गये और बड़े सुखी हुए॥ २-३॥

नोट—१ ***'मंदोदरी बचन सुनि काना।'*** इति। उपक्रममें सबका एक साथ विलाप करना और रोते

* 'को आन'। † मुनिदुर्लभ जो परम गति—(का०)।

हुए प्रताप बखानना कहा, यथा—*'पतिगति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपुष सँभारा॥ उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥'* *'ते'* और *'करहिं'* दोनों बहुवचन हैं। और यहाँ उपसंहार *'मंदोदरी बचन'* पर किया है। यह क्यों? पुनः, मन्दोदरीको ऊपर मूर्छित दिखाया, यथा—*'मूर्छित बिकल धरनि खसि परी।'* मूर्छित होनेसे अन्य रानियोंका उसे उठाकर रावणके पास आना कहा, यथा—*'जुबतिबृन्द रोवत उठि धाईं। तेहि उठाइ रावन पहिं आईं॥'* बीचमें कहीं मन्दोदरीका मूर्च्छासे जागना नहीं कहा, जैसे अन्यत्र कहा है—

मेघनाद—*'परा भूमि घुर्मित सुरघाती'*…… *'मेघनाद कै मुरछा जागी।'* (७४। १)

रावण—१ *'मुरछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहिं गएउ।'* (९७)………

'इहाँ अर्ध निसि रावन जागा॥' (९९। ७)

२—*'परेउ धरनितल सुधि कछु नाहीं॥ उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी॥'* (८२। ७-८)

३—*'परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा।'*……*'मुरुछा गइ बहोरि सो जागा।'* (८३। २-३)

श्रीहनुमान्‌जी—*'घुर्मित भूतल परेउ तुरंता॥'*……*'मुरुछा गइ मारुतसुत जागा'* (६५। ३)

तब *'मंदोदरी बचन'* कैसे कहा? इसका समाधान यह है कि—

मूर्च्छाका जाना प्रत्यक्ष नहीं कहा। पर वह अब मूर्छित नहीं है, नहीं तो रावणकी दाह-क्रियापर *'मंदोदरी आदि सब देइ तिलांजलि ताहि। भवन गईं'*…… *।'* (१०४), ऐसा न लिखते। उसका मूर्च्छाविगत होना *'तेहि उठाइ रावन पहिं आईं'* में जना दिया है। उसे उठाकर रावणके पास *'लाईं'* न कहकर *'आईं'* कहा। 'उठने' से होशमें आना सूचित किया, यथा—*'परेउ मुरछि महि लागत सायक।'*……*'सुनत बचन उठि बैठ कपीसा।'* (५८। १, ८) (हनुमान्‌जी), *'ताहि एक छन मुरुछा आई॥ उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया।'* (५। १९; मेघनाद)

नोट—२ (क) 'मन्दोदरी पटरानी है, इससे उसीको अन्तमें कहकर ये वचन सबके जनाये। अथवा, (ख)—आदिमें *'ते करहिं पुकारा'* से *'काल बिबस पति कहा न माना'* तक सबके वचन हैं और *'काल बिबस पति कहा न माना'* सहित आगेके सब वचन मन्दोदरीके ही हैं, औरोंके नहीं। इस तरह *'पति कहा न माना'* से मन्दोदरीने रावणसे स्वयं एकान्तमें जो कहा था, वह भी जना दिया है। इसीसे *'पति'* सम्बोधन यहाँ ही दिया अन्यत्र नहीं। इसका प्रमाण वाल्मी० ११० (१) में है, उसीके अनुसार यहाँ कविने प्रथम सब रनवासका विलाप कहा और अन्तमें मन्दोदरीका। यथा—'**अन्तःपुराद्विनिष्पेतू राक्षस्यः शोककर्शिताः॥**' (१), '**विमुक्तकेश्यः शोकार्ता गावो वत्सहता यथा॥**' (२), '**आर्यपुत्रेति वादिन्यो हा नाथेति च सर्वशः॥**' (४), '**एवमार्ताः पतिं दृष्ट्वा रावणं निहतं भुवि। चुक्रुशुर्बहुधा शोकाद् भूयस्ताः पर्यदेवयन्॥**' (११), '**विलेपुरेवं दीनास्ता राक्षसाधिपयोषितः।**' (२६) अर्थात्—रावणके शोकसे पीड़ित स्त्रियाँ अन्तःपुरसे निकलीं, उनके केश छूटे हैं, वे शोकार्त्त हैं जैसा वत्सके मरनेपर गऊ होती है। सब रोकर कहती थीं—हा आर्य पुत्र! हा नाथ! रणभूमिमें सोये हुए पतिको देखकर वे सब आर्त होकर जोरसे चिल्लाकर रोने लगीं और उसको चारों ओरसे घेर लिया। इस तरह रावणकी सब स्त्रियाँ दुःखी होकर विलाप करने लगीं। (च० सं० में यह सर्ग ११३ में है) फिर आगे सर्ग १११। १ में वाल्मीकिजी लिखते हैं कि—'**तासां विलपमानानां तदा राक्षसयोषिताम्। ज्येष्ठा पत्नी प्रिया दीना भर्तारं समुदैक्षत**' अर्थात् उस समय विलाप करती हुई उन राक्षसकी स्त्रियोंमें ज्येष्ठा परम प्रिया पत्नी मन्दोदरी अति दीन होकर स्वामीको देखने लगी।

आगे सर्गभरमें मन्दोदरीका ही विलाप है। श्रीरामचन्द्रजी मनुष्य नहीं हैं वरन् परब्रह्म हैं, ये वचन अन्य रानियोंके विलापमें नहीं हैं। केवल मन्दोदरीके विलापमें ये वचन आये हैं—'**व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः॥**' (११) इत्यादि। अर्थात् यह स्पष्ट है कि ये महायोगी सनातन परमात्मा ही हैं। इस तरह मन्दोदरीके वचन, जिनमें रामचन्द्रजीका परत्व और करुणामय एवं कृपालु स्वभावका प्रतिपादन परिपूर्ण है; सुनकर देवतादिको सुख हुआ।

इन वचनोंसे सुख हुआ, यह कैसे जाना? इससे कि आगे इन्होंने (सुरसिद्धने) जो स्तुति की है। उसमें भी इन्हीं बातोंका प्रतिपादन है, यथा—*'दीनबंधु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्ह पर दाया॥'* (१०९। ३), *'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥'* (८), *'यह खल मलिन सदा सुरद्रोही।*……*अधम सिरोमनि तव पद पावा।'*

पं०—वचन सुनकर सुखी होनेका कारण कि—१ उसके वचनोंसे रावणकी मृत्यु निश्चित हुई, यह सन्देह नहीं रह गया कि वह अभी मरा नहीं है। २—रावण देवता, मुनि और सिद्धको सताया करता था जिससे उनकी स्त्रियाँ रोती थीं, (एवं देव-वधूटियों, ऋषि-पत्नियोंको उससे बहुत दुःख पहुँचता था) आज उसकी स्त्रियोंका रुदन देखकर वे सुखी हुए। वा, ३—मन्दोदरीने जो रामविमुख होनेका फल कहा उससे जगत्‌को उपदेश है, यह समझकर सुख हुआ। वा, ४—मयसुताने रघुनाथजीको सच्चिदानन्दस्वरूप कहा यह सुनकर सुख हुआ कि यह धन्य है कि दुष्टकी संगतिमें भी इसकी ऐसी बुद्धि है। वा, ५—रावणकी परमगति और रामचन्द्रजीकी पतितपावनता सुनकर सुख हुआ।

☞ यही सब भाव मयंककारने दिये हैं। बहुत स्थलोंमें दोनोंके भाव मिलते हैं। पर पंजाबीजीकी टीका पहलेकी छपी है। हो सकता है कि दोनों महानुभावोंके समकालीन होनेसे दोनोंके मस्तिष्कसे एक ही समय एक-से भाव निकले हों। या पंजाबीजीकी हस्तलिखित टीका पाठकजीने देखी हो। पाठकजीके दोहे क्लिष्ट हैं; उन्हें उनके शिष्य-प्रशिष्योंको छोड़ और कोई समझ नहीं सकता। इससे उनके भाव कोई ले नहीं सकता था। मा० म० में जहाँ-तहाँ दूसरोंके भावोंका घोर भयंकर खण्डन देख पड़ता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि दूसरेके दिये हुए भावोंका उन्हें प्रथमसे ही ज्ञान था। यह कुम्भोंके अवसरपर परस्पर सत्सङ्गसे भी हो सकता है।

नोट—३ *'अज महेस नारद सनकादी।'''''''* इति। (क) पूर्व सुर-मुनि-सिद्धका सुख कहा। अब उनसे पृथक् अजमहेशादिका सुख कहते हैं। (ख) पृथक् कहकर जनाया कि साधारण सुर-मुनि आदि मन्दोदरीके विलापमें कान लगाये थे और उससे सुख पा रहे थे, उसी समय ब्रह्मादिक प्रभुकी शोभाको देख-देखकर प्रेम और आनन्दमें मग्न हो रहे थे। *'प्रेम मगन'* अर्थात् रोमाञ्च हो रहा था, नेत्र सजल थे, यथा—*'रामचंद्र मुखचंद छबि लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल प्रेम प्रमोद न थोर॥'* (१। ३२१), *'अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक सरीरा॥ तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुखपंकज दिये॥'* (अत्रिजी), *'रामरूप नखसिख सुभग बारहिं बार निहारि। पुलकगात लोचन सजल उमा समेत पुरारि॥'* (१। ३१५) अथवा, (ग) प्रथम समष्टिका सुख कहकर तब व्यष्टिका कहा।

नोट—४ *'भरि लोचन'''''''* इति। नेत्रभर देखनेका भाव कि—(१) यह शोभा अब थोड़ी ही देरतक देखनेको मिलेगी फिर न मिलेगी, इससे भरपूर देख लें। यथा—*'कोउ कह चलन चहत हहिं आजू। '''''''लेहु नयन भरि रूप निहारी।'* (१। ३३५) पुनः, (२) इससे अपने नेत्र और जन्म सफल करते हैं,—*'भरि लोचन छबि लेहु निहारी।'''''''हम तौ आजु जनमफलु पावा।'* (१। २४६), *'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥'* (७। ७५। ६), *'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥'* (३। १०। ९)

पं०—भाव कि सर्वजगत्‌को प्रसन्न देखकर प्रभु सुखी हुए और ऐसे सुखदाताका दर्शन ये करते हैं। वा, रणसे हृदयमें उद्वेग न प्राप्त हुआ ऐसे शान्तात्मा जानकर प्रभुको नेत्रभर देखते हैं। वा, अब चलनेकी इच्छा है, अतः नेत्रभर देखते हैं।

रुदन करत देखीं सब नारी। गएउ बिभीषनु मन दुख भारी॥ ४॥
बंधु दसा बिलोकि दुख कीन्हा। तब प्रभु अनुजहि आयसु दीन्हा॥ ५॥

अर्थ—सब स्त्रियोंको रोती हुई देखकर विभीषणजीके मनमें भारी दुःख हुआ और वे उनके पास गये॥ ४॥ उन्होंने भाईकी दशा देख दुःख (शोक) किया। तब प्रभुने छोटे भाई लक्ष्मणजीको आज्ञा दी (कि जाकर उसे समझाओ)॥ ५॥

बं० पा०—मन्दोदरीका रुदन कहकर बीचमें देवता, मुनि आदिका सुख (अर्थात् परमार्थ) कहने लगे थे, अब पुनः रुदनका सम्बन्ध मिलाया।

नोट—१ *'गएउ बिभीषनु मन दुख भारी।'* (क) यहाँ *'गएउ दुख'* कहा, 'भयो दुख' न कहा। इसमें यह भी ध्वनि है कि उसके मनमें रावणकी मृत्युका किञ्चित् दुःख न था, यह दुःख जो इस समय हुआ वह बाहरसे आया अर्थात् मन्दोदरी आदिको दुःखी देख इनको दुःख आ प्राप्त हुआ। (ख) 'दुख

जाना' मुहावरा है, अर्थात् दुःखी होना। रा० प्र०—कार लिखते हैं कि 'एक तो स्त्रियोंको रुदन करते देखा; उसकी छाया पड़ी, दूसरे एक ही वंशका होनेसे दुःख हुआ। सोचा कि जो वैर था, वह तो रावणतक ही था अब तो ये अनाथ और दीन हैं।

नोट—२ प्रथम मनमें रुदन देखा दुःख हुआ, तब भाईकी दशा देख दुःख हुआ कि ऐसा तेजस्वी, प्रतापी, प्रबल वीर आज पृथ्वीमें पड़ा है, मेरा कहा मान लिया होता तो आज यह दशा क्यों होती? **'दुख कीन्हा'** में वचन और कर्म दोनों आ गये, मुँहसे शोकके वचन कहते और तनसे रुदन आदि करते पृथ्वीपर गिरे। इस प्रकार मन, वचन और कर्म तीनोंको दुःखी दिखाया।

नोट—३ यहाँ यह भी दिखाया कि संसार-सम्बन्ध कैसा प्रबल है, आखिर भाई ही तो है इससे दशा देख शोक आ ही गया। यह माया-मोह *'छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि'*—(उ० ७१)। पुनः, यह भी दिखाया कि भक्त वा सत्पुरुष असमयमें वैरभाव त्याग देते हैं।

नोट—४ 'महाशोकयुक्त विभीषण दुःखी होकर सोच करने लगे और रावणके आगे गिरकर अत्यन्त रोने लगे। तब रामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे उन्हें समझानेको कहा।'—यही अ० रा० में कहा है। यथा—**'मन्दोदरीमुखाः सर्वाः स्त्रियो रावणपालिताः। पतिता रावणस्याग्रे शोचन्त्यः पर्यदेवयन्॥ विभीषणः शुशोचार्तः शोकेन महतावृतः। पतितो रावणस्याग्रे बहुधा पर्यदेवयत्॥ रामस्तु लक्ष्मणं प्राह बोधयस्व विभीषणम्'** (अ० रा० १२। ५—७), वाल्मी० १०९ में विभीषणका विलाप रावण-वधपर तुरन्त है और श्रीरामजीका उन्हें स्वयं समझाना लिखा है। *'भारी'* क्योंकि ११ श्लोकोंमें है।

अ० रा० में **'शोकेन महताविष्टम्'** तथा **'पतितं मृतकोपमम्'** जो कहा है, वह यहाँकि *'भारी'* शब्दमें आ जाता है।

लछिमन तेहि बहु बिधि समुझायेउ*। बहुरि बिभीषनु प्रभु पहिं आयेउ॥ ६॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने उन्हें बहुत प्रकारसे समझाया। फिर विभीषण लौटकर प्रभुके पास आये॥ ६॥†

नोट—१ (क) यहाँ प्रभुका श्रीलक्ष्मणजीको आज्ञा देना कहकर तुरत उनका विभीषणको समझाना कहा गया। विभीषणजीके पास जाना आदि न कहा गया। इससे कविने श्रीरामजीके वचनके पालनमें शीघ्रता दिखायी, श्रीरामजीको आज ही अयोध्याके लिये चल देना है, इसीसे सब कामोंमें अत्यन्त शीघ्रता करनी है, यह भी जना दिया। (ख) *'बहु बिधि।'* अ० रा० सर्ग १२ में १६ श्लोकोंमें समझाया है। अतः *'बहु बिधि'* कहा। दूसरे, अन्य ऋषियोंने भी जो लिखा हो वह भी प्रकार इस पदसे सूचित कर दिया।

लक्ष्मणजीने समझाया कि 'जिसका तुम सोच करते हो, उसके तुम कौन हो? वह तुम्हारा कौन है? तुम इसके पूर्वजन्ममें क्या थे और आगे क्या होगे? भाव कि इससे कभी कोई सम्बन्ध न था और न है। जैसे जलके वेगसे रेणुका आगे-पीछे बहकर चली जाती है और उन रेणुकाओंका संयोग-वियोग हुआ करता है वैसे ही जीवोंका संयोग-वियोग कालके प्रवाहसे हुआ करता है। जैसे धानोंका ढेर लगाओ तो एकके ऊपर एक थम जाता है पर चिकनाईसे नहीं थमता। ऐसे ही मायाप्रेरित प्राणियोंमें प्राणियोंका संयोग-वियोग होता है। इत्यादि प्रकारका समझाना अध्यात्ममें है, जैसा लक्ष्मणजीका उपदेश निषादराजको मानसमें कथित है। और वाल्मी० १०९ (श्लोक १४ से १९ तक) में श्रीरामजीका विभीषणको इस प्रकारका उपदेश है कि—

'प्रचण्ड विक्रमवाला यह रावण युद्धमें नष्ट नहीं हुआ है वरन् निश्चेष्ट है। अति उन्नत महान् उत्साहवाला यह अशङ्कित पड़ा हुआ है। क्षत्रियोंके धर्मको पालन करते हुए जो क्षात्रधर्मसम्पन्न लोग मरते हैं और अपनी उन्नतिके उदयके लिये जो रणाङ्गणमें लड़कर मरते हैं वे, शोचनीय नहीं हैं। जिन्होंने इन्द्रसहित त्रैलोक्यको युद्धमें त्रास दिया, कालके कवल होनेपर वे शोचनीय नहीं हैं। युद्धमें एक ही पक्षकी सदा जय हो ऐसा

* 'लछिमन जाइ ताहि समुझाएउ'—(का०)।

† यथा—'एवमुक्तोऽथ रामेण लक्ष्मणोऽगाद्विभीषणम्। उवाच मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम्॥' (अ० रा० १२। ९) अर्थात् श्रीरामजीके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणजी मृतक-रावणके समीप मृतकवत् पड़े हुए विभीषणसे जाकर बोले।

कभी पूर्व नहीं हुआ है; या तो शत्रुओंद्वारा वह स्वयं मारा जाता है या वह स्वयं शत्रुको मारता है। क्षत्रियोंके लिये पूर्वाचार्योंने पूर्व ही ऐसा निश्चय कर दिया है कि रणमें मारा हुआ क्षत्रिय शोचनीय नहीं है। इसलिये इस सिद्धान्तको देखकर और शोकरहित होकर तत्त्वको समझकर अब आगे जो कर्तव्य है उसे करो।

वि० त्रि० जी समझाना इस प्रकार कहते हैं—*'उन्नत उमंग जाको रणमें सदा ही रह्यौ, परम निशंक लंकपति सो प्रचंड वीर। भिरत प्रचारि युधि मानत न हारि, आज सोई सरदार सोयो चूमि रणभूमि धीर॥ वीर गति पायो औ बनायो परलोक ताको शोक नहीं कीजै उर आनि ममता की पीर। सहित उछाह वाह वाह तिहुँ लोक धन्य त्यागत शरीर जे सुधीर रण-गंग तीर॥'*

नोट—२ *'बहुरि प्रभु पहिं आयो'* से जनाया कि मन्दोदरी आदिके विलापसे शोकातुर हो वे रावणके शवके समीप जा पहुँचे थे, अब वहाँसे लौटे। आकर प्रणाम किया, यह बात आगे *'आइ बिभीषन पुनि सिर नायउ।'* (१०५। १) के *'पुनि'* पदसे सूचित होती है।

कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका॥ ७॥
कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी। बिधिवत देस काल जिय जानी॥ ८॥

अर्थ—प्रभुने उसको कृपादृष्टिसे देखा (और कहा कि) सब शोक छोड़कर रावणकी अन्त्येष्टि क्रिया (दाहकर्म) करो॥ ७॥ प्रभुकी आज्ञा मानकर देश और कालको मनमें विचारकर विधिपूर्वक उन्होंने रावणकी क्रिया की॥ ८॥

नोट—१ कृपादृष्टिसे देखकर मायासे निवृत्त किया। *'कृपादृष्टि'* से सूचित किया कि तुम अपनेको भ्रातारहित न समझो, हम तुम्हारे सब प्रकारसे सम्बन्धी हैं। (पं०) *'सब सोका'*—अर्थात् रावणका उसकी रानियोंका, परिवारका इत्यादि सब शोक हैं। भाव कि ये तुम्हारी रानियाँ बनेंगी जिससे इनका शोक मिट जायगा। रावणको परधामकी प्राप्ति हुई तब उसका शोक कैसा? परिवार तुम्हारे राजा होनेसे सुखी हो जायगा। (पं०) अत: शोक छोड़ो। नोट—२ *'प्रभु आयसु मानी।'* भाव कि विभीषण उसका दाह-संस्कार करना न चाहते थे, प्रभुने आज्ञा दी, इसलिये किया। वाल्मी० १११ (९१—९६) में विभीषणने कहा है कि धर्मव्रतको त्यागनेवाले, क्रूर, परायेको पीड़ा देनेवाले, मिथ्याभाषी, परदाररतके संस्कार करनेके योग्य हम नहीं हैं। सम्पूर्ण जीवोंके अहितमें रत यह हमारा भाईरूप-शत्रु बड़ा होनेपर भी पूजनीय नहीं है। यह सुनकर श्रीरामजीने उन्हें (श्लो० ९७ से १०३ तक) समझाया है। तब आज्ञा मानकर उन्होंने दाह-संस्कार किया। अ० रा० १२। ३१—३४ में भी इसी प्रकार उल्लेख है।—यह सब भाव *'आयसु मानी'* के हैं। आयसु माननेमें *'प्रभु'* पद दिया। भाव कि ये समर्थ हैं, इनकी आज्ञा उल्लंघन नहीं की जा सकती। उसका शीघ्र पालन कर्तव्य है। इसलिये उसको माना, यथा—*'प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई। करौं सो बेगि जो तुम्हहि सुहाई॥'* (५। ५९)

☞ प० प० प्र०—श्रीरामजीने बालीकी और रावणके ऐसे दारापहरण करनेवाले विश्वदु:खदायी, दुष्ट दुराचारी महान् शत्रुकी भी अन्त्यक्रिया करायी। यह भारतीय राजनीतिकी और भारतीय संस्कृतिकी परम उदारता है। अन्य धर्मीय संस्कृतिके इतिहासोंमें ऐसी उदारता दुर्लभ है। *'मरणान्तानि वैराणि'* यह वचन चरितार्थ करके दिखाया है।

वाल्मी० १११ (१०३ से १२१ तक) में विधि यों वर्णित है—'प्रथम उत्तम पालकीमें रेशमी वस्त्रसे मृतकको लपेटकर रखा। रोते हुए राक्षस और ब्राह्मण चले। आगे-आगे नगाड़े बजानेवाले और स्तुति करनेवाले चले। पताका और फूलोंसे आभूषित और चित्रित पालकीको विभीषण और राक्षसोंने उठाया। अध्वर्यु लोग अग्नि प्रज्वलित कर रावणके संग-संग चले। शरणागत पुरुष और रनवास पीछे-पीछे चला। पवित्र स्थानपर रंकु नामक मृगचर्म अभिमन्त्रित करके बिछाया और रावणका पितृमेधयज्ञ करने लगे। दक्षिणपूर्वके कोनेपर बेदी बनाकर उसपर अग्नि स्थापन करके मृतकको रखा और दधि-घृतसे स्रुव भर-भरकर कन्धेपर डाला। पैर, शकट और जंघोंपर उलूखल रखा। सब काष्ठपात्र अरनी आदि जो जिस स्थानपर चाहिये वहाँ रखे।

पं०—*'देसकाल'*— देश लङ्का और रणभूमिमें जैसी रीति है। काल त्रेतायुगमें और रणभूमिमें मरनेपर जैसी रीति है। वा, प्रभुको बहुत कार्य करना है, समय थोड़ा है उसमें जैसा होना चाहिये वैसा।

नोट—३ बालीकी क्रिया करनेकी आज्ञा सुग्रीवको दी गयी और उन्होंने की। वहाँ *'आयसु मानी'* पद

नहीं है। और यहाँ आज्ञा देनेपर 'आज्ञा मानकर' करना कहा। इससे जनाया कि बालीके मृतक-संस्कार करनेमें उन्हें संकोच न हुआ था और इनको रावणके संस्कार करनेमें संकोच हुआ। दोनोंका मिलान देखिये—

सुग्रीव	विभीषण
'तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक कर्म बिधिवत सब कीन्हा॥'	*'करहु क्रिया परिहरि सब सोका। कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी। बिधिवत देस काल जिय जानी॥'*

वहाँ *'बिधिवत कीन्हा'* यहाँ *'देस काल जिय जानी'* पद अधिक है। कारण कि सुग्रीवको दशगात्र करनेका समय काफी था; क्योंकि श्रीरघुनाथजीको वर्षाभर वहीं रहना था और यहाँ लङ्कामें प्रभुको ठहरनेका अवकाश नहीं है, तुरंत अवधको चलना है, अतः वहाँ *'काल'* का विचार न कहा और यहाँ कहा। *'देस'* यह कि रावण युद्धभूमिमें लड़ते हुए मरा है अतः वह तो मुक्त हो ही गया है, उसके लिये दशगात्रकी आवश्यकता नहीं है तो भी लोकरीति है, उसे कुछ-न-कुछ करना ही चाहिये।

दो०—मंदोदरी* आदि सब देइ तिलांजलि ताहि।
भवन गईं रघुपति† गुन गन बरनत मन माहिं॥१०४॥

अर्थ—मन्दोदरी आदि सब स्त्रियाँ उसे तिलाञ्जलि देकर श्रीरघुनाथजीके गुणगणोंका मनमें वर्णन करती हुई अपने भवनमें गयीं॥१०४॥

नोट—१ *'तिलांजलि।'* मृतकके शरीरके जलनेपर स्नान करके हाथकी अँजुलीमें जल भरकर उसमें तिल डालकर मृतकके नामपर छोड़नेकी रीति है। उसे तिलाञ्जलि कहते हैं। विभीषणने विधिवत् अग्नि-संस्कार करके फिर स्नानकर गीले कपड़े पहने। तिल, कुश और जलसे तिलाञ्जलि दी। तत्पश्चात् रानियोंको समझाकर शान्त करके जानेकी आज्ञा दी तब वे गयीं।—(वाल्मी० १११। १२०—१२२)।

पु० रा० कु०—*'गुनगन बरनत मन माहिं।'* यह लोकरीति है कि दाहकर्म करके जब लोग चलते हैं तब भगवान्‌का स्मरण करते हैं। कहा भी है *'जसि सुधि होति मरघटा जसि सुधि सुने पुरान। तसि सुधि रहै सर्वदा कस न मिलैं भगवान॥'* लोकशिक्षा निमित्त भी कहा।

बं० पा०—गुणगण अर्थात् प्रभुके शरणागतपालकत्व, दुष्टनिग्रह, धर्मरक्षणादि गुण।

नोट—२ मन्दोदरी-शोक-प्रकरणका उपसंहार *'मंदोदरी आदि सब……'* पर किया। *'पति सिर देखत मंदोदरी।'* (१०३। १) उपक्रम है।

मन्दोदरी-शोक-प्रकरण समाप्त हुआ

'विभीषण-राज्याभिषेक-प्रकरण'

आइ बिभीषन पुनि सिरु नायो। कृपासिंधु तब अनुज बोलायो॥१॥
तुम्ह कपीस अंगद नल नीला। जामवंत मारुति नयसीला॥२॥
सब मिलि जाहु बिभीषन साथा। सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा॥३॥

अर्थ—(दाहकर्म करके) फिर विभीषणजीने आकर प्रणाम किया। तब दयासागर श्रीरामजीने अपने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजीको बुलाया॥१॥ श्रीरघुनाथजीने कहा कि तुम सुग्रीव, अंगद, नल, नील, जाम्बवंत और हनुमान् सब नीतिनिपुण लोग मिलकर विभीषणजीके साथ जाओ और सम्पूर्णरूपसे राजतिलक करना॥२-३॥

नोट—१ *'आइ पुनि सिरु नायो।'* (क)—प्रथम आये तब क्रिया करनेको भेजे गये—*'बहुरि बिभीषन प्रभु पहिं आयेउ।……करहु क्रिया'*। क्रिया करके लौटे, इसलिये *'आइ पुनि'* कहा *'पुनि'*, *'सिरु नायो'* के साथ भी ले सकते हैं। *पुनि*=तत्पश्चात्=पुनः। 'पुनः' अर्थ लेनेसे भाव होगा कि पूर्व जब आये थे तब भी प्रणाम किया था और अब आये तब फिर प्रणाम किया। (ख) पूर्वक्रिया करनेके लिये जाना न कहा था, यहाँ *'आइ'* पदसे पूर्वका जाना भी कह दिया। (ग) सिर नवाया, यह शिष्टाचार किया और

* 'मयतनयादिक नारि सब।' † रघुबीर—(मा० म०, पं०, का०)।

यह भी जनाया कि अब क्या आज्ञा होती है।

नोट—२ *'कृपासिंधु तब अनुज बोलायो'* इति। (क) कृपा करके राज्य देंगे, अतः *'कृपासिंधु'* कहा। (ख) *'बोलायो'* से जनाया कि लक्ष्मणजी दूर थे। सुग्रीवके तिलककी आज्ञाके समय समीप थे इससे वहाँ 'बुलाना' न कहा था। यथा—*'राम कहा अनुजहि समुझाई........।'*

नोट—३ (क) श्रीलक्ष्मणजी भाई हैं, ये तिलक करेंगे, इन्हींने सुग्रीवका तिलक किया था। इससे इनको प्रथम कहा। सुग्रीव राजा और अङ्गद युवराज हैं। इससे उनको कहकर तब उनके मन्त्रियों और सेनापतियोंको कहा। राजा, राजकुमार और मन्त्री नीतिज्ञ होते ही हैं—*'राज कि रहइ नीति बिनु जाने।'* (ख) 'नयशील' का भाव कि राजाको तिलक कैसे करना चाहिये यह सब तुम लोग (सुग्रीवके तिलकसे) जानते हो।

शीला—रामजीने तिलक पूर्व सिन्धुतटपर ही कर दिया था, अब फिर करनेको कहते हैं। इसमें राजनैतिक प्राकृत दृष्टिसे प्रथम तिलक करनेका भाव यह है कि वे लङ्काका भेद कहेंगे, नहीं तो समझेंगे कि रावणवध होनेपर उसके किसी-न-किसी पुत्रको रामचन्द्रजी राज्य दे देंगे। और रामचरितकी यथार्थ दृष्टिसे प्रथम देवताओंके अभयके लिये तिलक किया था कि वे निश्चय जान लें कि सत्यसंकल्प प्रभु अब अवश्य उसे मारेंगे। और अब जो तिलक करेंगे वह इसलिये कि राजधानीमें राज्यसिंहासनपर बैठकर तिलक होना लोकरीति है।—[पूर्व जो तिलक हुआ उसे सब राक्षस क्या जानें? यदि लोकरीति-अनुसार तिलक न होता तो इनके राजा बनाये जानेमें संदेह होता।]

पिता बचन मैं नगर न आवौं। आपु सरिस कपि अनुज पठावौं॥ ४॥

अर्थ—मैं पिताकी आज्ञाके कारण नगरमें नहीं आऊँगा पर अपने समान वानर और छोटे भाईको भेजता हूँ॥ ४॥

नोट—१ *'पिता बचन मैं नगर न आवौं'* इति। सुग्रीवप्रति *'पुर न जाउँ दस चारि बरीसा'* ऐसा कहा और यहाँ *'न आवौं'* कहा। सुग्रीवसे ये वचन राज्याभिषेक होनेके बाद कहे गये थे। और अपने निवासके सम्बन्धमें कहा था कि १४ वर्षतक मैं किसी पुरमें नहीं जा सकता इससे न जाऊँगा, वरन् *'रहिहउँ निकट सैलपर छाई।'* और यहाँ विभीषणजीका राजतिलक करना है, सबको भेज रहे हैं और स्वयं नहीं जाते, यद्यपि सिन्धुतटपर अपने हाथसे तिलक किया था। विभीषणजीके चित्तमें शङ्का होनी सम्भव है कि पूर्व स्वयं तिलक किया, अब क्यों स्वयं तिलक नहीं करते। इसलिये यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता हुई। इसीसे *'न आवौं'* कहा। भाव कि तुम सबको भेजता हूँ, तुम्हारे साथ मैं नहीं चलता, क्योंकि पिताकी आज्ञा ऐसी ही है। अब १४ वर्ष पूरे हो गये केवल दो दिन शेष हैं। इसीसे यहाँ वर्षोंका नाम न लिया। अब तो एक वर्ष भी नहीं रह गया। (प्र० सं०) एक बात और विचार करनेकी है, वह यह है कि मानसमें सुग्रीवका वालीकी अन्त्येष्टि क्रिया करके श्रीरामजीके पास आना नहीं कहा गया। जान पड़ता है कि मानसकल्पमें सुग्रीव किष्किन्धामें ही थे तभी श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीको सुग्रीवका राज्याभिषेक करनेको भेज दिया। उस समय केवल लक्ष्मणजी प्रभुके साथ थे, अतः अकेले वे ही भेजे गये। सुग्रीव समीप न थे अतः *'पुर न आवउँ'* कहनेकी वहाँ आवश्यकता ही न हुई। इस समय श्रीरामजीके साथ सुग्रीवादि बहुत-से सम्माननीय लोग हैं जिन्होंने युद्धमें सहायता की है, अतः उन सबोंको भी तिलकमें सम्मिलित होनेको भेजा। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि विभीषणकी गहरी भक्तिसे श्रीरामजीने जान लिया कि ये नगरमें चलनेकी प्रार्थना अवश्य करेंगे, अतः प्रथम ही कह दिया कि *'पिता बचन मैं नगर न आवौं।'* सुग्रीव ऐसी प्रार्थना ही न करेंगे, यह जानते थे, अतः वहाँ न कहा। इस भेदसे कविने यह दरसा दिया कि सुग्रीव अधिक प्रतिष्ठाकाङ्क्षी हैं, इससे उनका प्रेम प्रभुमें उतना नहीं है जितना विभीषणजीका।

नोट—२ *'आपु सरिस कपि अनुज पठावौं'* इति। (क) यहाँ प्रभुका शील-स्वभाव दिखाते हैं। सुग्रीवादि अपनेको सेवक ही मानते और कहते हैं पर प्रभु उन्हें बराबर सखा ही मानते हैं, यथा—*'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।'*, *'प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान॥'* (१। २९) (ख) यहाँ प्रथम *'कपि'* तब *'अनुज'* कहा। वानरोंको अपने समान दिखानेके लिये *'आपु सरिस'* के साथ *'कपि'* पद दिया। भाईको प्रथम कहनेसे *'आपु सरिस'* केवल अनुजका ही विशेषण

समझा जा सकता था, क्योंकि भाई-भाई समान होते ही हैं। पुनः, (ग) यहाँ *'कपि अनुज'* कहकर *'कपि'* की श्रेष्ठता या प्रधानता कही और ऊपर *'तुम्ह कपीस अंगद नल नीला।'* में *'तुम्ह'* को प्रथम कहकर लक्ष्मणजीकी श्रेष्ठता वा प्रधानता दिखायी। इस प्रकार दोनोंको समान जनाया, किसीको छोटा-बड़ा नहीं। पुनः, (घ) पंजाबीजीका मत है कि *'कपि'* को पहले छन्दहेतु कहा।

तुरत चले कपि सुनि प्रभु बचना। कीन्ही जाइ तिलक कै रचना॥ ५॥
सादर सिंघासन बैठारी। तिलक सारि* अस्तुति अनुसारी॥ ६॥

शब्दार्थ—**रचना**=विधान, कार्य, आयोजना, अनुष्ठान, प्रबन्ध। **अनुसारना**=(कोई कार्य) करना, यथा—*'ताते कछुक बात अनुसारी।'*

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर वानर तुरंत चले और जाकर तिलकका विधान किया॥ ५॥ विभीषणजीको सादर सिंहासनपर बिठाकर राजतिलक करके स्तुति की॥ ६॥

नोट—१ *'तुरत चले कपि''''''''''।'* (क)—*'कपि'* को यहाँ प्रथम कहनेका भाव कि प्रथम वहाँ इन्हींका काम है। ये समस्त तीर्थों और समुद्रोंका जल लायँगे, सामग्री एकत्रित करेंगे, इत्यादि। (ख)—'तुरंत' दोनों चरणोंके साथ है—तुरंत गये, तुरंत तिलकका प्रबन्ध किया।

नोट—२ (क) 'तिलककी रचना' अयोध्याकाण्डमें कह चुके हैं। यथा—*'हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥ औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मंगल नाना। चामर चरम बसन बहु भाँती। रोम पाट पट अगनित जाती॥ मनिगन मंगल बस्तु अनेका। जो जग जोग भूप अभिषेका॥'* (२। ६। १—४) इससे यहाँ नहीं दुहराया। (ख)—तिलकका प्रबन्ध, सिंहासनासीन करना, तब तिलक और उसके बाद स्तुति और प्रणाम—ये सब क्रमसे कहे जैसे होते हैं।—यह सब राज्याभिषेकके समयकी रीति कही। (ग) वाल्मी० ११२ में तिलककी रचना इस प्रकार वर्णित है कि लक्ष्मणजीने हर्षपूर्वक स्वर्णघट लेकर श्रेष्ठ और मनके समान वेगवाले वानरोंको समुद्रोंका जल लानेकी आज्ञा दी। मनोवेगवाले वे वानर शीघ्र समुद्रोंका तीर्थ जल लेकर आ गये। बादमें एक घट लेकर और उसे उत्तम आसनपर रखकर उस घटसे जल लेकर लक्ष्मणजीने विभीषणजीका तिलक किया। श्रीरामजीकी आज्ञासे लङ्काके मध्यमें राक्षसराजका मन्त्र और विधिसे राज्याभिषेक किया। उस समय जितने राक्षस और वानर थे सबने तिलक किया। (श्लोक १२—१६) (घ)—प्रभुकी आज्ञापालनमें यहाँ कैसी शीघ्रता और उत्साह है, यह बात कविने अपने अक्षरोंसे जना दी है। तीन चरणोंमें तिलकका सामान, तिलक, स्तुति सभी कुछ हो गया। वाल्मी० रा० में रामजीने कहा है कि हम इनको अभिषिक्त देखना चाहते हैं; उसीपर इतनी शीघ्रता और उत्साह है। वाल्मी० रा० का भाव इतनेमें ही सब जना दिया गया। यहाँ 'चपलातिशयोक्ति अलङ्कार' है।

नोट—३ सुग्रीवके राज्याभिषेकपर कहा था कि *'लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्रसमाज'* (कि० १२)। उसका अध्याहार यहाँ भी कर लेना होगा और यहाँ 'तिलककी रचना', 'सिंहासनपर बिठाना' और 'स्तुति करना' कहा, इसका अध्याहार वहाँ भी कर लें। यह कविकी शैली है। जो कई बात स्थानोंपर कहनी होती है, उसे एक स्थानपर ही कहते हैं और वह सर्वत्र समझ ली जाती है। (प्र० सं०) पर वि० त्रि० जीका मत भी ठीक जान पड़ता है। वे लिखते हैं कि 'विभीषणजीको आदरके साथ सिंहासनपर बिठाया, तिलक किया और विभीषणकी स्तुति की। लक्ष्मण, सुग्रीव, अङ्गद, नल, नील, जाम्बवान् आदिने हाथ जोड़कर सिर नवाया। सुग्रीवजीके तिलकमें ऐसी बातें नहीं हुईं, कारण यह कि यह सिंहासन रावणका था, जिसका शासन सम्पूर्ण ब्रह्माण्डपर चलता था। यथा—*'ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबर्ती नर नारी॥'* देवता इसके आगे अवनतमस्तक होते थे। यथा—*'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥'* अतः उस सर्वोच्च गद्दीका सम्मान है कि सब लोग प्रणाम करते हैं। बाली बलवान् तो बहुत बड़े थे, पर उनका शासन केवल बन्दर-भालुओंपर चलता था, अतः उस गद्दीका उतना मान

* तिलकु कीन्ह—(का०)।

नहीं किया गया जितना कि रावणकी गद्दीका हुआ। स्वयं लक्ष्मणजी स्तुति करते हैं, प्रणाम करते हैं।

करु०—विभीषण परम भागवतोंमें मुख्य हैं, रावण और राक्षसोंके बीचमें रहकर भी वैष्णवधर्मका निर्वाह इन्होंने किया, अतएव स्तुति करने योग्य हैं।—[बै०—मागध, सूत, वन्दीगणने यशगान किया।]

जोरि पानि सब ही सिर नाए। सहित बिभीषन प्रभु पहिं आए॥ ७॥
तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे॥ ८॥

अर्थ—हाथ जोड़कर सभीने प्रणाम किया। इसके पश्चात् विभीषणसहित सब प्रभुके पास आये॥ ७॥ तब श्रीरघुवीरजीने वानरोंको (अपने निकट) बुला लिया और (अमृतसमान) प्यारे वचन कहकर सबको सुखी किया॥ ८॥

रा० प्र०—*'सब ही सिर नाए'* अर्थात् जो सभामें थे। (विशेष वि० त्रि० जीका टिप्पण, चौ० ६ में देखिये।)

नोट—*'सहित बिभीषन प्रभु पहिं आए'* इति। सुग्रीव न तो अन्त्येष्टि क्रियाके बाद और न राज्याभिषेकके बाद ही प्रभुके पास आये, वे बहुत वर्षोंसे छूटी हुई स्त्री और राज्यमें आसक्त हो गये, प्रभुके बुला भेजनेपर आये। विभीषणजी दोनों बार स्वयं ही तुरत आये। इससे इनमें विशेष भक्ति दिखायी।

छंद—किए सुखी कहि बानी सुधासम बल तुम्हारे रिपु हयो।
पायो बिभीषन राज तिहुँ पुर जसु तुम्हारो नित नयो॥
मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जे गाइहैं।
संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥

अर्थ—श्रीरामजीने अमृत-समान वाणी कहकर सबको सुखी किया। (वह वचन ये हैं) तुम्हारे ही बल (सहायता) से शत्रुका नाश हुआ और विभीषणने राज्य पाया—यह तुम्हारा यश तीनों लोकोंमें नित्य नया बना रहेगा। मेरे सहित तुम्हारी मङ्गलकीर्तिको जो परम प्रीतिसे गायँगे, वे मनुष्य बिना परिश्रम ही अपार संसारसागरका पार पा जायँगे।

नोट—१ अ० रा० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**रामो विभीषणं दृष्ट्वा हनूमन्तं तथाङ्गदम्। लक्ष्मणं कपिराजं च जाम्बवन्तं तथापरान्॥ परितुष्टेन मनसा सर्वानेवाब्रवीद्वचः। भवतां बाहुवीर्येण निहतो रावणो मया॥ कीर्तिः स्थास्यति वः पुण्या यावच्चन्द्रदिवाकरौ। कीर्तयिष्यन्ति भवतां कथां त्रैलोक्यपावनीम्॥ मयोपेतां कलिहरां यास्यन्ति परमां गतिम्।**'—(अ० रा० १२। १—४) अर्थात् रामजीने विभीषण, हनुमान्, अङ्गद, लक्ष्मण, सुग्रीव, जाम्बवन्त और अन्य सब वानरोंसे प्रसन्न होकर कहा—आपके बाहुबलसे मैंने रावणको मारा। आप लोगोंकी पवित्र कीर्ति जबतक सूर्यचन्द्रमा रहेंगे तबतक रहेगी। त्रैलोक्यको पवित्र करनेवाली कलिमलहारी, कीर्तियुक्त आपकी कथाको जो कहेंगे, वे परम गतिको प्राप्त होंगे।

अ० रा० में यह प्रसङ्ग मन्दोदरी-विलापके पहले और वाल्मी० १२२ में सीतामिलाप-प्रसङ्गके पीछे है।

नोट—२ (क) वाणी *'सुधासम'* है अतः उससे सुख हुआ। *'किए सुखी'* अर्थात् वाणीसे सब प्रेममें मग्न हो गये, शरीर पुलकायमान हो गया, यथा—*'श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात। बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात॥'* [बा० १४५] (ख) *'जसु तुम्हारो नित नयो'* इति। भाव कि कभी घटेगा नहीं, एकरस बना रहेगा, यथा—*'उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥'* (२। २०९) 'नित्य नया' से यह भी जनाया कि सदा बना रहेगा। इसीको अध्यात्ममें '**यावच्चन्द्रदिवाकरौ**' कहा है।

नोट—३ *'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी ………।'* (क) प्रभुकी कीर्ति मंगलमय है, यथा—*'जासु सकल मंगलमय कीती।'* (सु० ३४), अतः उनकी कीर्तिको भी *'सुभ'* कहा। (ख)—बिनु प्रयास भवसागर पार करनेका उपाय प्रभु सबको बता रहे हैं। वह यह है कि—हमारी और वानरोंकी शुभ कीर्तिका गान करें। पर परम प्रेमसे गान करें। (ग) *'बिनु प्रयास'* का भाव कि और उपायोंमें प्रयास है, गान करनेमें प्रयास नहीं। पुनः, *'बिनु प्रयास'* अर्थात् जप, योग, यज्ञादि किये बिना ही भवपार हो जायँगे। इनमें परिश्रम है। (घ) *'मोहि समेत सुभ कीरति तुम्हारी'* से जनाया कि केवल तीन काण्डों, किष्किन्धा, सुन्दर और लङ्काके ही गानसे यह फल प्राप्त

हो जायगा, समग्र रामायणके गानकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि इन्हींमें दोनोंके चरित एक साथ हैं। (ङ)—यह प्रभुका सबको आशीर्वाद है। वर्णाश्रमादि किसीका भी भेद नहीं, सब इसके अधिकारी हैं—

यहाँ प्रभुके *'आपु सरिस कपि अनुज'* (जो पूर्व कह आये हैं) उन वचनोंका चरितार्थ है। प्रभुके यशोगानसे भवसागर प्रयास बिना पार होता है—*'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥'*—(उ०), तथा इनके यशोगानसे बिना प्रयास भव पार होंगे।

बं० पा०—यह श्रीमुखसे रामायणका माहात्म्य प्रभुने कहा। *'मोहि सहित'* कहकर स्वयं गौण बने, वानरोंको प्रधान बनाया, आप अपने भक्तके पिछुआ हुए, भक्तको अगुआ बनाया, यह स्वामीकी कृतज्ञता है। तथा यह *'राम ते अधिक राम कर दासा'* का उदाहरण भी है।

दो०—प्रभु के बचन श्रवन सुनि* नहिं अघाहिं कपिपुंज।
बार बार सिर नावहिं† गहहिं सकल पदकंज॥ १०५॥

अर्थ—प्रभुके वचन कानोंसे सुनकर वानरसमूह अघाते नहीं। सभी बारम्बार माथा नवाते हैं और सभी चरणकमल पकड़ते हैं॥ १०५॥

नोट—१ वचन सुधासम हैं इससे सुनकर तृप्ति नहीं होती, यथा—*'नाथ तवानन ससि स्त्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मतिधीर॥'* (उ० ५२) २ (क)—*'बार बार सिर नावहिं'* और *'गहहिं पदकंज'* दोनों दशाएँ प्रेमनिमग्नता, कृतकृत्यता और प्रत्युपकारकी अपनेमें असमर्थता जनाती हैं, यथा—*'सुनत सुधा सम बचन राम के। गहे सबन्हि पद कृपाधाम के॥'* (७। ४७। १), *'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'* (७। १२५। ४)

पुनः, (ख)—*'गहहिं पदकंज'* का भाव कि आपकी वाणी मोहमें डालनेवाली है, हमको इन चरणोंसे विमुख करनेवाली है, इन चरणोंको हमसे न छुड़ाइये। सदा इनके आश्रित शरणमें रहने दीजिये। यथा—*'सुनत बचन प्रेमाकुल बानर। जोरि पानि बोले सब सादर॥ प्रभु जोइ कहहु तुम्हहिं सब सोहा। हमरे होत बचन सुनि मोहा॥ दीन जानि कपि किए सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥ सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कतहुँ खगपति हित करहीं॥'* (११६। ५—८)

पुनः, (ग)—प्रभुने तीन बातें कहीं—तुम्हारे बलसे शत्रु मारा गया और विभीषणने राज्य पाया। तीनों लोकोंमें तुम्हारा यश नित्य नवीन बना रहेगा। और, तुम्हारी इस कीर्तिको जो गायँगे वे भी भवपार होंगे। वानरवृन्द भी वचन सुनकर—*'भये सुखी'* और *'नहिं अघाहिं'; 'बार बार सिर नावहिं'* और *'गहहिं पदकंज'*। यश होगा और दूसरे भव तरेंगे, यह सुनकर अघाते नहीं, सुखी हुए और बारम्बार प्रणाम किया। तुम्हारे बलसे शत्रु मारा, यह सुन चरण पकड़ते हैं कि शरण रखिये। यथा—*'चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत'* (सुं० ३२) इसी तरहके वचन सुनकर हनुमान्‌जी चरणोंपर गिरे थे।

विभीषण-राज्याभिषेक-प्रकरण समाप्त हुआ।

'श्रीसीतारघुपतिमिलन'—प्रकरण

पुनि प्रभु बोलि लिएउ हनुमाना। लंका जाहु कहेउ भगवाना॥ १॥
समाचार जानकिहि सुनावहु‡। तासु कुसल लै तुम्ह चलि आवहु॥ २॥

अर्थ—फिर प्रभुने हनुमान्‌जीको बुलाया। भगवान् रामजीने उनसे कहा कि 'तुम लङ्कामें जाओ॥ १॥ जानकीजीको समाचार सुनाओ और उनकी कुशलताका समाचार लेकर चले आओ'॥ २॥

पं०—(क) प्रभु और भगवान् पद देनेका भाव कि ये स्वयं समर्थ हैं, ईश्वर हैं, किसीके आश्रय नहीं हैं, केवल भक्तको बड़ाई देनेके लिये इन्हें भेजते हैं। पुनः, ये एक बार हो आये हैं, वे इन्हें पहचानती हैं इसलिये इन्हें भेजा। (ख) 'कुशल लेकर चले आओ' का भाव कि उनको साथ न लाना। साथ न

* सुनत रामके बचन मृदु। † बारहि बार बिलोकि मुख—(का०)। ‡ सुनाएहु, आएहु—(का०)।

लानेका भाव कि समाचार सुनकर उनका अत्यन्त हर्षसे देहरहित हो जाना सम्भव है। जब सुनेंगी कि अभी बुलाया नहीं है तब वह हर्ष सामान्य हो जायगा। अथवा इससे न बुलाया कि अभी संयोगका मुहूर्त शुभ न था, समाचार भेजा कि अधीर न हों।

नोट—अभी इससे नहीं बुलाया कि कुशल-समाचार सुननेपर कि वे जीवित हैं, उनको आदरपूर्वक स्नानादिक करवाकर बुलायेंगे, यथा—'*बोलि लिये जुबराज बिभीषन॥ मारुतसुत के संग सिधावहु। सादर*……… *।*'

मिलान कीजिये—'**जानक्यै सर्वमाख्याहि रावणस्य वधादिकम्। जानक्याः प्रतिवाक्यं मे शीघ्रमेव निवेदय॥**' (अ० रा० १२। ५२) अर्थात् रावणका वधादि जानकीजीसे कहो। फिर जो वे कहें वह शीघ्र आकर हमसे कहो।

नोट—सुनानेको '*समाचार*' और लानेको '*कुसल*' कहा। क्या समाचार सुनानेको कहा यह आगे हनुमान्-सीता-संवादमें कहेंगे, इससे यहाँ न कहा।—'*सब बिधि कुसल कोसलाधीसा। मातु समर जीत्यो दससीसा॥ अबिचल राज बिभीषन पायो।*' '*समाचार*' में सुग्रीव, लक्ष्मण, विभीषन और अपना कुशल एवं रावणवध, विभीषणराज्य सब जनाये। यथा—'**प्रविश्य नगरीं लङ्कां कौशलं ब्रूहि मैथिलीम्॥ वैदेही मां च कुशलं सुग्रीवं च स लक्ष्मणम्। आचक्ष्व वदतां श्रेष्ठ रावणं च हतं रणे॥ प्रियमेतदिहाख्याहि वैदेह्यास्त्वं हरीश्वर। प्रतिगृह्य तु संदेशमुपावर्तितुमर्हसि॥**' (वाल्मी० ११२। २४—२६) [अर्थात् हे सौम्य! लङ्कापुरीमें जाकर जानकीजीसे लक्ष्मण, सुग्रीवसहित हमारी कुशल कहो। हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ! रावणका युद्धमें मरण भी कहना। हे कपिश्रेष्ठ! यह प्रिय संवाद जानकीजीसे कहो और उनका संदेश लेकर लौट आओ।] हनुमान्‌जीने पूछनेपर सबकी कुशल कहा है।

तब हनुमंत नगर महुँ आए। सुनि निसिचरी निसाचर धाए॥ ३॥
बहु प्रकार तिन्ह पूजा* कीन्ही। जनकसुता देखाइ पुनि† दीन्ही॥ ४॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान्‌जी नगरमें आये। (उनका आगमन) सुनकर निशाचरियाँ और निशाचर (स्वागतके लिये) दौड़े॥ ३॥ बहुत तरहसे उन्होंने इनकी पूजा की और फिर जानकीजीको दिखा दिया॥ ४॥

नोट—१ यहाँ दिखाते हैं कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा—'*यथा राजा तथा प्रजा।*' दुष्ट रावणके राज्यमें उन्हीं राक्षसियोंका क्या आचरण था और अब विभीषणराज्यमें क्या है?—भक्तकी पूजा कर रहे हैं। '*बहु प्रकार*' अर्थात् षोडशोपचार पूजा। यथा—'**इति प्रतिसमादिष्टो हनूमान्मारुतात्मजः। प्रविवेश पुरीं लङ्कां पूज्यमानो निशाचरैः॥**' (वाल्मी० ११३। १) अर्थात् इस तरहसे पवनसुत हनुमान् आज्ञापित हो लङ्कामें निशाचरोंसे पूजित होते हुए प्रविष्ट हुए।

पांडेजी—यहाँ निशिचरीको प्रथम कहा तब निशाचरको। भाव कि—(क) निशिचर सब मारे गये अब निशाचरियाँ ही बची हैं।—(नोट—जैसे-जैसे निशिचर मरते गये तैसे-तैसे यहाँके निशिचर भी रणमें बुलाये गये। निशिचर बहुत मार डाले गये अब कम हैं और निशाचरियाँ बहुत हैं।) अतः उनको प्रथम कहा। वा, (ख) निशिचर हनुमान्‌जीसे भयभीत हैं, इससे उन्होंने स्त्रियोंको आगे किया जिसमें वे क्रोध न करें।

नोट—२ '*देखाइ पुनि दीन्ही।*' '*पुनि*' का भाव कि प्रथम पूजा की तब उनके साथ जाकर दूरसे दिखा दिया कि वह श्रीजानकीजी बैठी हैं। साथ-साथ समीप न गयीं कि कदाचित् सबके सामने इनसे बोलनेमें संकोच हो। रा० प्र० कार '*पुनि*' का अर्थ दुबारा लेते हैं। इसीसे वे कहते हैं कि यहाँ तो प्रथम ही बार दिखाया है अतः '*पुनि*' ठीक नहीं। पर '*पुनि*' का अर्थ तत्पश्चात् भी है। वही अर्थ '*पुनि*' का यहाँ भी होगा। यथा—'*सिबिका रुचिर साजि पुनि ल्याए।*' (१०७। ७) में भी पालकी दुबारा नहीं लायी गयी थी, तब भी'*पुनि*' ही शब्द दिया गया अर्थात् श्रीसीताजीको आभूषणवस्त्रादि पहनाकर तब पालकी लाये।

दूरिहि ते प्रनाम कपि कीन्हा। रघुपति दूत जानकी चीन्हा॥ ५॥
कहहु तात प्रभु कृपानिकेता। कुसल अनुज कपि सेन समेता॥ ६॥

अर्थ—कपिने दूरहीसे प्रणाम किया। श्रीजानकीजीने पहचान लिया कि यह रघुपतिदूत हैं॥ ५॥ (तब

* पूजा बहु प्रकार तिन्ह। † तिन्ह दीन्ही। (का०)

बोलीं) हे तात! कहो, कृपाके धाम प्रभु छोटे भाई और सेनासहित कुशलसे तो हैं?॥ ६॥

नोट—१ *'दूरिहि ते प्रनाम कीन्हा'* इति। भाव कि जहाँसे राक्षसियोंने उनको दिखाया था और वे देख पड़ती थीं एवं वे इनको देख सकती थीं। जहाँसे दर्शन हों, वहींसे प्रणाम करना विधि है, यथा—*'सखा बचन सुनि बिटप निहारी।'''''''''करत प्रनाम चले दोउ भाई।'* (अ० २३८। १-२), *'देखे भरत लषन प्रभु आगे। पूँछे बचन करत अनुरागे॥'''''''''बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥'* (२। २३९। ४—६); *'पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥'* (२। २४०। २), *'गिरिबर दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥'* (२। २७५। २) *'गुरुहिं देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥ मुनिबर धाइ लिए उर लाई।'* (२। २४३। ३-४) इत्यादि।

नोट—२ (क) *'चीन्हा'* से पूर्व परिचय जनाया। (ख) *'कृपानिकेता'* का भाव कि कृपा की इसीसे तुम्हें हमारे पास भेजा। (ग) *'कुसल अनुज कपि सेन समेता',* ठीक इन सबका कुशल हनुमान्‌जीद्वारा रामजीने कहला ही भेजा था। १०६ (३-४) देखिये।

सब बिधि कुसल कोसलाधीसा। मातु समर जीत्यो दससीसा॥ ७॥
अबिचल राजु बिभीषन पायो*। सुनि कपिबचन हरष उर छायो॥ ८॥

अर्थ—हे मातः! कोसलपति श्रीरामजी सब प्रकार सकुशल हैं। हे मातः! उन्होंने रणमें दस सिरवाले रावणको जीत लिया है॥ ७॥ विभीषणजीने अचल राज्य पा लिया है। कपिके वचन सुनकर उनके हृदयमें आनन्द छा गया॥ ८॥

नोट—१ (क) *'सब बिधि'* का भाव कि सेना सकुशल है, सब वानर सकुशल हैं, लक्ष्मणजी सकुशल हैं, सुग्रीवादि सबके सहित वे कुशलपूर्वक हैं। यथा—**'देवि रामः ससुग्रीवो विभीषणसहायवान्। कुशली वानराणां च सैन्यैश्च सहलक्ष्मणः॥ रावणं ससुतं हत्वा सबलं सह मन्त्रिभिः। त्वामाह कुशलं रामो राज्ये कृत्वा विभीषणम्॥ श्रुत्वा भर्तुः प्रियं वाक्यं हर्षगद्गदया गिरा।'** (अ० रा० १२। ५८—६०) अर्थात् हे देवि! श्रीसुग्रीवसहित विभीषणजी जिनके सहायक हैं, वे श्रीरामजी वानरसेनाओं और सुग्रीव तथा लक्ष्मणसहित कुशलपूर्वक हैं। सेना, मन्त्री और पुत्रोंसहित रावणको मारकर विभीषणको राज्य देकर आपसे कुशल कहा है। स्वामीके प्रिय वचन सुनकर श्रीसीताजी हर्षपूर्वक गद्‌गदवाणीसे (बोलीं)। (ख) श्रीजानकीजीने कुशल पूछा था। अतः पहले कुशल कही तब रावणवधादि कहे। *'अबिचल राजु'* का भाव कि कल्पभरका राज्य दिया है। यथा—*'कहेहु कलप भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।'* (११५) पुनः यथा—**'विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम्॥ लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम्।'** (भा० ९। १०। ३२-३३) अर्थात् भगवान् रामजी विभीषणको राक्षसोंका राज्य और लङ्का तथा कल्पपर्यन्त आयु दे, व्रतको पूर्णकर पुरीको चले। [पुनः 'अविचल राज्य' का भाव कि उनके सब विरोधी रावण और उसका समस्त परिवार और पक्षपाती मारे गये, कोई न रह गया। (पं०)] (ग) *'हरष उर छायो'* अर्थात् निर्भर प्रेममें मग्न हो गयीं। यह कहकर आगे प्रेमकी दशा दिखाते हैं।

पं० वि० त्रिपाठीजी—सरकारने विभीषणको राजगद्दी देनेके बाद हनुमान्‌जीको समाचार लेकर श्रीसीताजीके पास भेजा, जिसे सुनकर सीताजीको हर्ष हुआ। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या रावणवधका समाचार तबतक नहीं मिला था? युद्धका समाचार सीताजीको मिलता जाता था, अतः रावणवधका समाचार भी लग गया, इसमें संदेह नहीं। पर दूधका जला मट्ठा फूँककर पीता है। सीताजी सशङ्क थीं, कोई दूसरा उपद्रव बीचमें न खड़ा हो जाय, परंतु जब हनुमान्‌जीसे पता चला कि विभीषणको अविचल राज्य मिला, कोई कण्टक नहीं है, तब हर्ष हृदयमें छा गया। बुद्धिमतांवरिष्ठने इसीलिये *'अबिचल'* शब्द प्रयोग किया।

छं०—अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।
का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी समा॥

* पावा, छावा—(का०)।

सुनु मातु मैं पायो अखिल-जग-राजु आजु न संसयं।
रन जीति रिपुदल बंधुजुत पस्यामि राममनामयं॥

शब्दार्थ—**किमपि**=कुछ भी, यथा—'*ताते गुप्त रहउँ जगमाहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं॥*' **समा**=समान।

अर्थ—श्रीजानकीजीके मनमें अत्यन्त हर्ष है, तन पुलकित है और नेत्रोंमें जल भरा है। वे बारंबार कह रही हैं कि 'हे कपि! त्रैलोक्यमें इस वाणीके समान कुछ भी नहीं है'। अतः तुमको मैं क्या दूँ? (हनुमान्‌जी बोले) हे मातः! सुनिये। मैंने आज सम्पूर्ण जगत्‌का राज्य पा लिया, इसमें संदेह नहीं है जो रणमें शत्रुसेनाको जीतकर भाईसहित निर्विकार श्रीरामचन्द्रजीको आज सुस्थिर देख रहा हूँ।

पु० रा० कु०—कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों प्रकारका हर्ष हुआ इसलिये '*अति हरष*' कहा। रामकुशल सुनकर श्रीसीताजीको सात्त्विक भाव उत्पन्न हुआ—'**स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः। वैवर्णमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः**' इति भरतः॥

नोट—१ (क) तन, मन, वचन तीनोंका हर्ष दिखाया—'*अति हरष मन*', '*पुलक तन*', '*कह पुनि-पुनि*' (वचन)। (ख)—'*कह पुनि पुनि*', यह दशा निर्भर प्रेमकी है। '*पुनि-पुनि*' का स्वरूप वाल्मीकीयमें खूब स्पष्ट है। वही शब्द, वही भाव बारंबार उन्होंने कहे हैं। यथा—'**किं ते प्रियं करोम्यद्य न पश्यामि जगत्त्रये॥**' (अ० रा० १२। ६०) '**न हि पश्यामि सदृशं चिन्तयन्ती प्लवङ्गम। आख्यानकस्य भवतो दातुं प्रत्यभिनन्दनम्॥**' (वाल्मी० ११३। १६) '**न च पश्यामि सदृशं पृथिव्यां तव किंचन॥ सदृशं यत्प्रियाख्याने तव दत्वा भवेत्सुखम्॥ हिरण्यं वा सुवर्णं वा रत्नानि विविधानि च। राज्यं वा त्रिषु लोकेषु एतन्नार्हति भाषितुम्॥**' (१९-२०) अर्थात् वानर! इस आपके संदेशके सदृश प्रत्यभिनन्दन (पारितोषिक) सोचनेपर मैं कुछ भी नहीं देखती। पृथ्वीभरमें कुछ भी इसके सदृश नहीं देखती। हमको इस प्रिय कथाके सदृश आपको देखकर सुखी करनेवाला कोई पदार्थ नहीं देख पड़ता, न हिरण्य, न स्वर्ण, न नाना प्रकारके रत्न, न त्रैलोक्यका राज्य ही इस कथाकी योग्यताको पा सकता है'। (च० सं० में यह कुछ पाठ-भेदसे सर्ग ११६ में है) (ग) यहाँ '*त्रैलोक महुँ किमपि नहिं*' से ऐश्वर्य प्रकट होता है अतः श्रीजानकीजीका ऐश्वर्यसूचक 'रमा' नाम दिया। कुशल-समाचार भेजने, पूछने इत्यादि माधुर्य चरितमें बराबर जनकसम्बन्धी नाम देते आये हैं। 'रमा' पदसे जनाया कि सब लोकोंका अधिष्ठात्य इनके आश्रित है। ये तीनों लोकोंकी अधीश्वरी हैं तभी तो कहती हैं कि तुम्हारा क्या प्रिय मैं करूँ? त्रैलोक्यमें कुछ नहीं दिखायी देता। यथा—'**किं ते प्रियं करोम्यद्य न पश्यामि जगत्त्रये।**' (अ० रा० १२। ६)

नोट—२ '*का देउँ तोहि*.........।' भाव कि मैं तुमसे उऋण नहीं हूँ। श्रीभरतजीकी भी यही दशा और ऐसे ही वाक्य हैं। मिलान, यथा—

श्रीसीताजी	श्रीभरतजी
'*हरष उर छावा*', '*अतिहरष मन*'	१ '*प्रेम नहिं हृदय समाता*'
'*लोचन सजल*', '*तन पुलक*'	२ '*नयन स्रवत जल, पुलकित गाता*'
'*पुनि पुनि कह रमा। का देउँ तोहि*'	३ '*बारबार पूछी कुसलाता। तो कहँ देउ काह*.......'
'*त्रैलोक महुँ किमपि नहिं बानी समा*'	४ '*एहि संदेस सरिस जगमाहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥*'

☞श्रीजानकीजी सर्वज्ञा और त्रैलोक्यकी स्वामिनी हैं अतः उन्होंने '*त्रैलोक्य महँ*' कहा। भरतजी चक्रवर्ती हैं अतः इनने '*जग महँ*' कहा। कुछ देने योग्य नहीं है, अतः भरतजी कहते हैं कि '*नाहिन तात उरिन मैं तोही।*' वही भाव मिलानसे यहाँ सिद्ध हुआ।

सुन्दरकाण्डमें श्रीरामजीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—'*सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।*' (३२। ७) इस तरह रघुवंशभरको ऋणी दिखाया।

नोट—३ '*मैं पायो अखिल जग राजु*.........।' इति। ☞हनुमान्‌जीकी निष्काम भक्ति दिखाते हुए कवि उपदेश देते हैं कि स्वामीकी कुशल और सुखमें ही सेवक अपनेको सब कुछ प्राप्त समझे, किसी भी पदार्थकी चाह कदापि न करे। वाल्मी० ११६ के '**तवैतद्वचनं सौम्ये सारवत्स्निग्धमेव च।**.........**रत्नौघाद्विविधाच्चापि देवराज्याद्विशिष्यते। अर्थतश्च मया प्राप्ता देवराज्यादयो गुणाः।**' (२३-२४) अर्थात् आपके ये सारयुक्त मनोहर

स्नेहमय वचन केवल विविध प्रकारके रत्नोंसे ही नहीं किंतु स्वर्गके राज्यसे भी कहीं अधिक चढ़-बढ़कर मूल्यवान् हैं। उनके सुननेसे ही मुझे देवराज्यादि समस्त मूल्य पदार्थ प्राप्त हो चुके।—इन वचनोंका भाव भी *'पायो अखिल जग राज'* में आ जाता है। 'अखिल जग राज्य' देवराज्यादिसे विशेष चढ़-बढ़कर है (च. सं.)। इसके आगे जो कहा है कि **'हतशत्रुं विजयिनं रामं पश्यामि सुस्थितम्।'** (२५) [अर्थात् क्योंकि मैं शत्रुहन्ता एवं विजयी श्रीरामचन्द्रजीको अब शान्तचित्त पाता हूँ], वही भाव *'रन जीति·········पश्यामि राममनामयम्'* का है। अ० रा० में भी यह श्लोक है, *'सुस्थितम्'* की जगह *'सुस्थिरम्'* पाठ उसमें हैं। 'अनामय' का भाव कि आज आपके विरहजनित शोक और ताप छूटे, रावणको मारकर सुस्थिर हुए।

बं० पा०—१ *'अखिल राज्य पायो'* के अन्तर्गत यह भाव है कि इनको आगे विरञ्चिपदवीकी प्राप्ति होनी है। ☞२ *'का देउँ तोहि·········।'*, यह रावणवध और विभीषणराज्याभिषेक-कथाकी पूजा है कि त्रिलोकीमें कोई पदार्थ देने योग्य इस प्रत्युपकारके लिये नहीं मिला, तब सातों काण्डोंकी कथा सुनकर श्रोता क्या पूजा देंगे—यह कैमुतिक-न्यायसे जनाया।

दो०—सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु* हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति रहहु† समेत अनंत॥ १०६॥

अर्थ—हे पुत्र! हनुमंत! सुनो, समस्त उत्तम (सात्त्विक) गुण तुम्हारे हृदयमें बसें और लक्ष्मणसहित कोसलाधीश श्रीरामजी तुमपर प्रसन्न रहें॥ १०६॥

नोट—१ (क) संसारका कोई पदार्थ देने योग्य न समझा और इनको निष्काम पाया तब संदेशके बदलेमें यह आशीर्वाद दिया। इससे जनाया कि त्रैलोक्यभरमें लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीकी सानुकूलताके समान कोई पदार्थ नहीं है। (ख) प्रथम जब हनुमान्‌जी श्रीजानकीजीके पास श्रीरामजीका संदेश लेकर आये थे तब यह आशीर्वाद मिला था कि *'होहु तात बल सील निधाना॥ अजर अमर गुन निधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू॥'* (सुं० १७। २-३) और अबकी—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामचन्द्रजी दोनोंकी सानुकूलता एवं सद्गुणोंकी स्थिरता दी। इससे जनाया कि यह उससे अधिक है।

नोट—२ (क) श्रीरघुनाथजीने माँगनेपर भक्ति दी थी, यथा—*'नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायनी।·········एवमस्तु तब कहेउ भवानी।'* (५। ३४। १-२) और माताने बिना माँगे दी। यह माताका पुत्रपर विशेष प्रेम दिखाया। श्रीहनुमान्‌जीने कोसलाधीशका कुशल सुनाया—*'सब बिधि कुसल कोसलाधीसा।'* अतः इन्होंने भी 'कोशलपति' की ही सानुकूलता दी। (ख) वाल्मी० एवं अ० रा० में कहा है कि तुममें समस्त गुण हैं। यथा—**'बलं शौर्यं श्रुतं सत्त्वं विक्रमो दाक्ष्यमुत्तमम्। तेजः क्षमा धृतिः स्थैर्यं विनीतत्वं न संशयः। एते चान्ये च बहवो गुणास्त्वय्येव शोभनाः॥'** (वाल्मी० ११३। २५-२६) [अर्थात् जितने उत्तम गुण हैं वे सब तुममें पूर्वसे ही हैं। विक्रम, बल, शौर्य, शास्त्रज्ञान, उत्तम दक्षता, तेज, क्षमा, धैर्य, स्थिरता, विनय—ये और अन्य भी बहुत-से शोभन (सुन्दर) गुण आपमें हैं इसमें संशय नहीं।] और, मानस सुन्दरकाण्डमें आपसे आशीर्वाद मिल चुका है कि तुम गुणनिधान होवो। अतएव 'बसहु' का भाव यह है कि ये सब स्थिर रहें।

मा० मु० टी०—वासनारहित चित्त देखकर उनकी रुचि जान अपनेसे ही उनको यह वर दिया। सकल सद्गुण अर्थात् यावत् साधुगुण जो लोक-वेदमें प्रसिद्ध हैं वे बिना साधन ही हृदयमें बसें। यह आशिष देकर फिर उसका फल कहती हैं कि *'सानुकूल·········।'* श्रीजानकीजीके समान दात्री नहीं, हनुमान्‌समान अधिकारी नहीं, साधुओंके गुणोंके समान उपादेय गुण नहीं और रामचन्द्रजीकी सानुकूलताके समान फल नहीं—ये चारों व्यञ्जित किये। आगे अब तात्कालिक व्यवहार कहती हैं।

अब सोइ जतनु करहु तुम्ह ताता। देखौं नयन स्याम मृदु गाता॥ १॥
तब हनुमान राम पहिं जाई। जनकसुता कै कुसल सुनाई॥ २॥

अर्थ—हे तात! अब वही उपाय तुम करो जिससे मैं अपने स्वामीके कोमल श्यामल शरीरका नेत्रोंसे

* बसहुँ। † रहहुँ—(का०)।

दर्शन करूँ॥ १॥ तब श्रीरामजीके पास जाकर हनुमान्‌जीने श्रीजानकीजीकी कुशल सुनायी॥ २॥

नोट—१ (क) *'अब सोइ जतनु करहु'* का भाव कि जैसे तुमने पूर्व ऐसा यत्न किया कि वे तुरंत लङ्कामें आये वैसे ही अब यत्न करोगे तो वे तुरंत बुला भेजेंगे। भाव कि जाकर दर्शनके लिये हमारी आतुरता उनसे कहना। (ख) *'देखौं नयन'* का भाव कि ध्यानमें तो अब भी देखती हूँ, यथा—*'निज पद नयन दिए मन रामचरन महँ लीन'* एवं *'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।'* अब आँखों देखूँ।

नोट—२ (क) *'तब हनुमान राम पहिं जाई।'* यहाँ कवि हनुमान्‌जीकी शीघ्रता और माताको दर्शन करानेकी आतुरता एवं उत्सुकता अपने अक्षरोंकी स्थितिसे दिखाते हैं—न सीताजीको प्रणाम न रामजीको। अ० रा० में प्रणाम करना लिखा है। यथा—'**रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रं मामाज्ञापयतु राघवः॥ तथेति तां नमस्कृत्य ययौ द्रष्टुं रघूत्तमम्। जानक्या भाषितं सर्वं रामस्याग्रे न्यवेदयत्॥**' (अ० रा० १२। ६४-६५) अर्थात् रामजीको मैं देखूँ ऐसी वे शीघ्र मुझे आज्ञा दें। 'बहुत अच्छा' ऐसा कह उनको प्रणामकर रघुनाथजीको देखने गये और जानकीजीका संदेश कहा। (ख) 'आई' न कहकर 'जाई' कहनेमें भाव यह है कि ग्रन्थकार कपिराज हनुमान्‌जीके साथ वाटिकामें आये और वहीं रह गये, श्रीजानकीजीके साथ ही लौटेंगे। (प० प० प्र०)

सुनि* संदेसु भानुकुलभूषन। बोलि लिए जुबराज बिभीषन॥ ३॥
मारुतसुत के संग सिधावहु। सादर जनकसुतहि लै आवहु॥ ४॥

अर्थ—सूर्यकुलभूषण श्रीरघुनाथजीने संदेश सुनकर युवराज अङ्गद और श्रीविभीषणजीको बुलाया (और कहा)॥ ३॥ पवनसुतके साथ जाओ और आदरपूर्वक श्रीजानकीजीको ले आओ॥ ४॥

नोट—१ (क) पूर्व कहा कि*'जनकसुता कै कुसल सुनाई'* और यहाँ कहते हैं कि *'सुनि संदेस।'* श्रीरघुनाथजीने कहा था कि *'तासु कुसल लेइ तुम्ह चलि आवहु'* अतः 'कुशल' सुनाना कहा और जानकीजीने जो कहा था कि *'अब सोइ जतन करहु तुम्ह ताता। देखउँ नयन स्याम मृदु गाता॥'* यह उनकी दर्शनके लिये व्याकुलता भी कही। इसीसे यहाँ *'पुनि संदेस'* कहा। पुनः, (ख)—भाव कि कुशल सुनकर न बुलाया, आतुरता सुनकर तुरंत बुलाया। पुनः, मानसमें कुशल लानेको कहा है अतः प्रथम कुशल कही और वाल्मी० रा० में 'संदेश' लानेको कहा है, (यथा—'**प्रतिगृह्य च सन्देशमुपावर्तितुमर्हसि।**'); अतः फिर 'सन्देश' सुनाना भी लिखा।

नोट—२ *'भानुकूलभूषन'* का भाव कि—(क) सूर्यवंशकी मर्यादाके अनुकूल महारानी श्रीसीताजीको लानेके लिये भेजेंगे। विभीषण राजा हैं, अङ्गद युवराज हैं, अतः ये ले आनेको भेजे गये। पुनः, विभीषणको भेजा कि वे सादर स्नान आदि करानेकी आज्ञा निशिचरियोंको दें। अङ्गदमें बालभाव है और ये युवराज भी हैं और विभीषणको लङ्का दे चुके हैं एवं इनकी स्त्री सरमा वहाँ सेवामें हैं। अतः इनको भेजा। (रा० प्र०) पुनः (ख) सूर्यकुलभूषण हैं, अतः पहले दूत भेजकर हाल लिया तब बुलाने भेजा, यथा—*'कारुनीक दिनकरकुलकेतू। दूत पठायेहु तव हित हेतू॥'* (३६। २), (पं०)

नोट—३ *'मारुतसुत के संग'* से हनुमान्‌जीकी प्रधानता कही। और किसीको वे नहीं पहचानेंगी। इनके साथ जानेसे इन सबको प्रभुके भेजे हुए समझेंगी। पुनः, 'मारुतसुत' को प्रधान रखकर जनाया कि इनके जानेसे कार्य शीघ्र होगा। शीघ्र जाकर लाइये।—'**उपस्थापय मा चिरम्।**' (ख) *'सादर'* का भाव आगे स्वयं कवि देते हैं कि स्नान कराके, भूषण-वस्त्र पहनाकर इत्यादि। वाल्मी० ११७ (च० सं०) में जो श्रीरामजीने विभीषणजीसे स्वयं कहा था, कि '**दिव्याङ्गरागां वैदेहीं दिव्याभरणभूषिताम्। इह सीतां शिरःस्नातामुपस्थापय मा चिरम्॥**' (७) अच्छी तरह उबटन करा और सिरसे स्नान कराकर तथा दिव्य भूषणोंसे भूषित कर सीताजीको यहाँ ले आओ, वह यहाँ 'सादर' से जना दिया। मानसके विभीषणजी 'सादर' से ही सब समझ गये और इससे अधिक किया।

तुरतहि सकल गए जहँ सीता। सेवहिं सब निसिचरी बिनीता†॥ ५॥
बेगि बिभीषन तिन्हहिं सिखायो‡। तिन्ह बहु बिधि मज्जन करवायो॥ ६॥

* सुनि बानी पतंगकुलभूषन—(का०)

† सभीता—भा० दा०। ‡ सिखावा, अन्हवावा—(का०)

अर्थ—तुरंत ही वे सब वहाँ गये जहाँ सब निशिचरियाँ नम्रतापूर्वक श्रीसीताजीकी सेवा कर रही थीं॥ ५॥ विभीषणजीने शीघ्र ही उनको सिखाया। (शिक्षाके अनुसार) उन्होंने बहुत प्रकारसे उनको स्नान कराया॥ ६॥

नोट—*'बहु बिधि।'* सिरपरकी जटावत् वेणीको सुलझाकर, उत्तम अङ्गराग फुलेलादि लगाकर सुगन्धित जलसे स्नान कराया। इत्यादि।

वि० त्रि०—असंस्कृत वेषमें स्त्रीका पतिके सामने जाना निषिद्ध है। जगदम्बाको *'कृस तन सीस जटा एक बेनी'* ऐसे दीन वेषमें देखना भी नहीं चाहते। अतः इङ्गित कर दिया कि *'सादर जनक सुतहि लै आवहु।'* जिसके लिये समुद्रपर पुल बँधा, इतना बड़ा संग्राम हुआ, विभीषण राजा बनाये गये वे दीन वेषमें लङ्कासे कैसे जायँगी। अतः विभीषणने निशाचरियोंको आज्ञा दी। वे राजमहलकी दासियाँ मङ्गल-स्नान कराने तथा भूषण साजनेमें बड़ी चतुर हैं, अतः मङ्गल स्नानमें ठंडा जल तथा गरम जलसे स्नान, केश-संस्कार, अङ्गरागादि लेप इत्यादि जितने विधान हैं, उन सबसे काम लिया।

बहु प्रकार भूषन पहिराए। सिबिका रुचिर साजि पुनि ल्याए॥ ७॥
तापर हरषि चढ़ी बैदेही। सुमिरि राम सुखधाम सनेही॥ ८॥

अर्थ—बहुत तरहके गहने पहिनाये। फिर विभीषणजी सुन्दर पालकी सजाकर लाये॥ ७॥ उसपर वैदेही श्रीजानकीजी सुखके धाम स्नेही (प्रियतम) श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण कर हर्षपूर्वक चढ़ीं॥ ८॥

नोट—१ (क) *'बहु प्रकार'* अर्थात् प्रत्येक अङ्गके जहाँ जैसे चाहिये वैसे आभूषण सजा-सजाकर पहनाये। यथा—*'भूषन सकल सुदेस सुहाये। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाए॥'* (१। २४८) पुनः, षोडश शृङ्गार करके। (ख) *'ल्याए'* से जनाया कि पालकीमें कहार लगे थे—**'आरोप्य शिबिकां सीतां राक्षसैर्वहनोचितैः।'** (वाल्मी०)

नोट—२ (क) *'हरषि चढ़ी।'* प्रस्थान-समयका हर्ष मङ्गलसूचक होता है; दूसरे अपने प्रियतमके पास जा रही हैं जिनके दर्शनोंके लिये इतने दिनोंसे तरस रही थीं, अतः हर्ष है। यथा—*'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ'*—(मारीचवचन)। (ख) *'सुखधाम'* हैं, अतः हमको सुख देंगे। पुनः भाव कि वे सुखधाम हैं, उनको हमारे बिना कोई कष्ट नहीं हो सकता पर वे स्नेही हैं, अतः भक्तको सुख देते ही हैं। (ग) *'सुमिरि'*—यह मङ्गलाचरण किया।

बेतपानि रक्षक चहुँ पासा। चले सकल मन परम हुलासा॥ ९॥
देखन भालु कीस सब आए। रक्षक कोपि निवारन धाए॥ १०॥

अर्थ—चारों ओर हाथमें छड़ी लिये हुए रक्षक चल रहे हैं, सबके मनमें अत्यन्त उल्लास (आनन्दोत्साह) है॥ ९॥ सब रीछ-वानर श्रीसीताजीका दर्शन करने आये तब रक्षक क्रोध करके उनको रोकने दौड़े॥ १०॥

नोट—१ (क) प्रभुने जो कहा था कि *'सादर जनकसुतहि लेइ आवहु'* उस 'सादर' का अर्थ *'बहु बिधि मज्जन करवायो।'* से लेकर *'चले सकल मन परम हुलासा'* तक सात चरणोंमें दिया है। (ख) परम हुलास महारानीजीकी सेवाका है। रक्षकोंके निवारण करनेका कारण कि वे मन्दोदरी आदि रानियोंकी रक्षाका प्रकार जानते हैं इसलिये उन्होंने वानरोंको रोका। (पं०) *'देखन सब आए'* से सबकी लालसा दिखायी कि जिनके लिये इतना परिश्रम किया वे कैसी हैं।

कह रघुबीर कहा मम मानहु। सीतहि सखा पयादे आनहु॥ ११॥
देखहुँ* कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाईं॥ १२॥

अर्थ—श्रीरघुवीरजी बोले—हे सखा! हमारा कहना मानो। श्रीसीताजीको पैदल लाओ॥ ११॥ वानर उनको माताकी तरह देखें, गोस्वामी रघुनाथजीने हँसकर ऐसा कहा॥ १२॥

नोट—१ *'रघुबीर'* शब्द यहाँ दयावीरताके सम्बन्धसे दिया गया। श्रीसीताजी शीघ्र उनके पास पहुँच जायँ इस विचारसे रक्षकोंने वानरोंको हटाया जिससे सब वानर घबड़ा गये। यह देख श्रीरामजीको दया

* देखहिं—(का०)।

आ गयी; अतः उन्होंने विभीषणको ऐसा करनेसे रोका। यथा—'**उत्सार्यमाणांस्तान्दृष्ट्वा समन्ताज्जातसम्भ्रमान्। दाक्षिण्यात्तदमर्षाच्च वारयामास राघवः॥**' (च० सं० वाल्मी० ११७। २३)

पु० रा० कु०—१ '*कहा मम मानहु।*' भाव कि यद्यपि यह बात उचित नहीं है तो भी हमारी बात मानो। पयादे लानेमें हेतु यह है कि वानर उनको देख सकें। ['*कहा मम मानहु*' से यह भी जान पड़ता है कि विभीषणजी उसी प्रकार लानेमें हठ करते थे। वाल्मीकीयमें तो कहा है कि लाल-लाल आँखें कर उन्होंने विभीषणजीको उलहना दिया और कहा—'**किमर्थं मामनादृत्य क्लिश्यतेऽयं त्वया जनः। निवर्तयैनमुद्योगं जनोऽयं स्वजनो मम॥**' (२५) तुम मेरे जनोंको क्यों सता रहे हो। अपने लोगोंको मना कर दो कि इनको न सतावें, क्योंकि ये सब तो मेरे स्वजन ही हैं अर्थात् घरके लोगों-जैसे हैं।—पर मानसके राम बड़े ही शीलस्वभावके हैं। वे 'सखा' सम्बोधन करके सखाकी तरह विभीषणको समझा रहे हैं। यहाँ तो '*बिहँसि*' कहा है।'*देखहुँ कपि जननी की नाईं*'—अ० रा० में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**पश्यन्तु वानराः सर्वे मैथिलीं मातरं यथा॥ पादचारेण सायातु जानकी मम सन्निधिम्।**' (१२। ७३-७४)] २—'बिहँसि' से वानरोंपर अत्यन्त कृपा दिखायी, वा, हँसे कि देखो तो जिन वानरोंके इतने परिश्रमसे उनका रावणके हाथसे छुटकारा हुआ उन्हींको ये रोकते हैं। वा, '**स्मितपूर्वाभिभाषी च।**' यह आपका स्वभाव है। वा, सबका मन रखनेके लिये हँसे।

नोट—२ (क) पैदल लानेमें भाव कि सब देखें, देखनेमें हर्ज नहीं, शास्त्रमें निषेध भी नहीं है जैसा वाल्मी० ११४ में श्रीरामजीने कहा है। यथा—'**न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारास्तिरस्क्रिया। नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियाः॥ व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियाः॥ सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेण च समन्विता। दर्शने नास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः॥ विसृज्य शिबिकां तस्मात् पद्भ्यामेवापसर्पतु।**' (२७—३०) अर्थात् स्त्रियोंके लिये घर, वस्त्र, कोटा, परदा वा राजसत्कार आवरण नहीं हो सकते। उनका शुभ आचरण ही परदा है। दुःखमें, क्लेश, युद्ध, स्वयंवर, यज्ञ एवं विवाहमें दर्शनसे स्त्री दूषित नहीं होती। ये इस समय क्लेशयुक्त विपत्तिमें प्राप्त हैं, इसलिये एवं मेरे समीप होनेसे इनके दर्शनमें दोष नहीं। (ख) '*देखहुँ जननी की नाईं*' का भाव कि जैसे माताके सामने जानेमें पुत्रको संकोच नहीं होता वैसे ही ये सब पास जाकर दर्शन करें।

सुनि प्रभु बचन भालु कपि हरषे। नभ ते सुरन्ह सुमन बहु बरषे॥ १३॥
सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी॥ १४॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर रीछ और वानर प्रसन्न हुए। आकाशसे देवताओंने बहुत फूल बरसाये॥ १३॥ श्रीसीताजीको पहले अग्निमें रखा था, अब अन्तरसाक्षी भगवान् उनको प्रकट करना चाहते हैं॥ १४॥

नोट—१ '*कपि हरषे*' क्योंकि प्रभुने उनकी लालसा पूरी की। देवताओंने खूब पुष्प बरसाये, कारण कि रीछ-वानर सब इन्हींके अंश हैं, उनकी मान्यता देख ये भी प्रसन्न हुए। तिरस्कार उनको अच्छा न लगा था, यह भी जनाया। बं० पा० ही लिखते हैं कि देवताओंने प्रभुकी भक्तवत्सलता देखकर अथवा सवा वर्षमें श्रीराम-जानकीका पुनः संयोग हुआ अतः मङ्गल-समय जानकर फूल बरसाये।

नोट—२ (क) '*सीता प्रथम अनल महुँ राखी*', यथा—'*तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करउँ निसाचर नासा॥*' (३। २४। २) पं० रामकुमारजी 'प्रथम' को 'सीता' का विशेषण मानते हैं। 'सीता प्रथम' अर्थात् हरणके पूर्ववाली सीता, साक्षात् सीताको अग्निमें रखा था। अथवा, साक्षात् असली सीता जो मायाकी नहीं हैं।

नोट—३ '*सीता प्रथम……*' इति। ऐसा ही अ० रा० में कहा है। यथा—'**मायासीतां परित्यक्तुं जानकीमनले स्थिताम्। आदातुं मनसा ध्यात्वा रामः प्राह विभीषणम्॥**' (अ० रा० १२। ६७) अर्थात् अग्निमें स्थित जानकीजीको लेनेके लिये और मायासीताको छोड़नेके विचारसे रामजी विभीषणसे बोले।

नोट—४ '*प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी*' इति। पं० रामकुमारजी, पंजाबीजी, बाबा हरीदासजी तथा बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'अन्तरसाखी' श्रीरामजीका विशेषण है। भाव कि श्रीरामजीका अन्तःकरण

सब बातोंका साक्षी है, वे उनके पातिव्रत्यको जानते हैं यह भी जानते हैं कि यह कोई और नहीं जानता कि ये असली सीताजी नहीं हैं, उनका प्रतिबिम्बमात्र है, यथा—*'लछिमनहूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥'* (३। २४। ५) पर बिना मायासीताके अग्निमें प्रवेश कराये वास्तविक सीताजीको जिनको पहले अग्निमें रखा था, जिन्हें पाणिग्रहण-समय अग्निकी साक्षी देकर ग्रहण किया था, कैसे प्रकट करें? अतः उन्हीं अग्निकी साक्षीके मिष प्रकट करना चाहते हैं। इसीसे शपथद्वारा अग्निसे प्रकट करायेंगे।

पं०—१ अन्तरसाक्षी अर्थात् भगवान् सबके हृदयके ज्ञाता हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, उन्होंने सीताजीको अनलमें इसलिये रखा था कि लङ्कामें रहनेसे लोग इनपर संदेह करेंगे, इससे उनके भ्रमनिवृत्त्यर्थ हम श्रीजानकीजीको अग्निसे प्रकट करायेंगे। अन्तर्यामी होकर भी उन्होंने ऐसा किया, इसका भाव यह है कि उनको संदेह नहीं है—(नोट—वाल्मी० और हनुमन्नाटकमें श्रीरामजीने स्वयं यह बात कही है)—केवल सीताजीकी महिमा और मर्यादा प्रकट करनेके लिये ऐसा किया। २—दूसरा अर्थ—उन सीताजीको अग्नि जो साक्षी है उसके भीतरसे प्रकट करना चाहते हैं।

करु०—अर्थात् अग्निको अन्तरसाक्षी करके प्रकट करना चाहते हैं।

नोट—५ अग्निदेव सबके अन्तःकरणके साक्षी हैं, यथा—'**लोकस्य साक्षी**' (वाल्मी० ११९। २५। च० सं०) *'तौ कृसानु सब कै गति जाना।'* उन्होंने प्रकट होकर श्रीसीताजीकी शुद्धताकी साक्षी भी दी है, यथा—'**अब्रवीच्च तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः। एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते॥ नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा। सुवृत्ता वृत्तशौटीर्य न त्वामत्यचरच्छुभा॥**' (वाल्मी० ११८। ५-६) अर्थात् लोकसाक्षी अग्निदेव बोले—'यह सीता आपकी है, यह निष्पाप है। इस सदाचारिणीने आपपर अत्याचार नहीं किया है। हे धर्मशील! ये मन, वचन, बुद्धि और नेत्रोंसे आपको छोड़ दूसरेकी ओर कभी नहीं फिरीं। ये सब प्रकारसे सदाचारिणी हैं।

अध्यात्ममें अग्निके ये वचन हैं '**गृहाण देवीं रघुनाथ जानकीं पुरा त्वयामप्यवरोपितां वने।**' (१३। २०) इत्यादि (अर्थात्) हे रघुनाथ! पहले तपोवनमें मुझे सौंपी हुई देवी जानकीको अब ग्रहण कीजिये।

दो०—तेहि कारन करुनानिधि* कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानीं सब लागीं करै बिषाद॥ १०७॥

अर्थ—इसी कारण करुणासिन्धु श्रीरामजीने कुछ दुर्वचन कहे। सब राक्षसियाँ जिन वचनोंको सुनकर विषाद करने लगीं॥ १०७॥

पं०—*'करुनानिधि'* विशेषण दुर्वादकथनके साथ देनेका भाव कि जैसे वैद्य रोगीके सुखके लिये उसका रुधिर निकालता है वैसे ही प्रभुने श्रीसीताजीकी निष्कलंकता स्थापित करनेके लिये दुर्वाद कहे।†

नोट—१ वाल्मीकिमें श्रीरामजीने यही बात स्वयं अग्निदेवसे कही है। यथा—'**अवश्यं चापि लोकेषु सीता पावन मर्हति। दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तःपुरे शुभा॥ बालिशो बत कामात्मा रामो दशरथात्मजः। इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि॥ अनन्यहृदयां भक्तां मच्चित्तपरिवर्तिनीम्। अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम्॥ प्रत्ययार्थं तु लोकानां त्रयाणां सत्यसंश्रयः। उपेक्षे चापि वैदेहीं प्रविशन्तीं हुताशनम्॥**' '**अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा॥**' (६। ११८। १३—१५, १९) (अर्थात् निश्चय ही तीनों लोकोंके बीच जानकीजी पवित्र हैं किन्तु यदि मैं इनकी शुद्धताकी परीक्षा न कर इन्हें शुद्ध सिद्ध न करवाता तो सब यही कहते कि महाराज दशरथके पुत्र श्रीरामचन्द्र बड़े कामी और बालिश हैं। मैं जानता हूँ

---

* करुनायतन—(का०)

† 'हे महान्तो जनाः यद्यपि प्रिया पतिव्रता तथापि चिरं परमन्दिरस्था दिव्यमन्तरेण कथं मां स्प्रष्टमर्हति।'...... तत्र रामो रतिं लेभे न प्रिया विरहार्दितः। यत्सत्यं मनसि स्वच्छे रम्याणां रमणीयता॥' (हनु० १४। ५३) अर्थात् हे महत्पुरुषो! यद्यपि सीता पतिव्रता हैं तो भी ये बहुत कालतक परपुरुषके घर रही हैं इससे ये क्योंकर हमें (बिना शपथ किये) स्पर्श कर सकती हैं। श्रीरामजी स्त्री-विरहसे व्याकुल थे तो भी इस कार्यमें संतुष्ट न हुए—यह सत्य है कि मन स्वच्छ होनेसे सुन्दरोंमें सुन्दरता दिखायी देती है॥

कि मैथिली मुझमें अनन्य अनुरागवती है। मैंने सत्यका आश्रय लेते हुए इनको अग्निमें प्रवेश करते समय नहीं रोका और इनकी उपेक्षा की, जिससे तीनों लोकोंको इनकी विशुद्ध चरित्रताका विश्वास हो जाय। सीता तो मुझमें वैसे ही अनन्यरूपसे अनुरागवती है जैसे प्रभा सूर्यसे।

श्रीदशरथजीने भी श्रीसीताजीसे यही कहा है कि श्रीरामजीने तुम्हारा हित सोचकर ही तुम्हें विशुद्ध सिद्ध करनेके लिये यह सब किया था, तुम इसका बुरा न मानना। यथा—'**कर्तव्यो न तु वैदेहि मन्युस्त्यागमिमं प्रति। रामेण त्वद्विशुद्ध्यर्थं कृतमेतद्धितैषिणा॥**' (१२२। ३४)

वि० त्रि०—'करुणानिधि' का इतना कहना कि 'मैं तुम्हें शुद्ध नहीं मान सकता, जबतक कि तुम अग्नि-परीक्षा न दो' यही दुर्वाद है। इसीलिये कहते हैं कि '*प्रभुके बचन सीस धरि सीता।*' वाल्मीकि-महाभारतादिमें इसीका विस्तार है। सीताको अग्निमें प्रवेश करनेके लिये कह रहे हैं पर सुनकर यातुधानी विषाद करने लगीं। जहाँ अग्नि-परीक्षा ली लाती है वहाँ हाथपर पीपलका पत्ता रखकर संकल्पपूर्वक गरम लोहा रखा जाता है, अग्निमें प्रवेश नहीं कराया जाता। अग्निमें प्रवेश कराकर परीक्षा लेना तो कहीं नहीं सुना गया, यह नयी बात सीताजीके लिये क्यों हो रही है। यही बात लोग सरकारसे कहना चाहते हैं, पर सरकारका रुख देखकर उनका भी कहनेका साहस नहीं पड़ रहा है; परन्तु प्रभुका वचन है, इसमें ननु नच कुछ भी न करके जगदम्बा सीताजीने उसे प्रमाण माना और लक्ष्मणजीको अग्नि प्रकट करनेके लिये कहा।

पु० रा० कु०—१ अरण्यकाण्डमें लक्ष्मणजीको मायासीताने दुर्वचन कहे थे, उसका उत्तर प्रभुने उनको यहाँ दिया। इस चरितसे प्रभुने निज सेवकके अपराध करनेवालेके सम्बन्धमें अपनी असहनशीलता प्रमाणित कर दिखायी है। २—राक्षसियाँ विषाद करने लगीं; क्योंकि वे मन, वचन और कर्मसे उनकी शुद्धता जानती हैं, दिन-रात वे उनके समीप ही रहकर देखती रही हैं।

साक्षीके बहाने और की और बात कहना 'कैतवापह्नुति' अलंकार है।

नोट—२ क्या दुर्वाद कहे, यह बात कहीं मानसकविने नहीं खोली है। अतएव 'मानस-पीयूष' तिलकमें भी वे नहीं दिये जाते। जिसे देखना हो वह वाल्मी० ११५ या महाभारत वनपर्वमें देख ले। पाठक इतना जान लें कि वे चरित्रके सम्बन्धके संदेहयुक्त वचन थे। उमा-महेश्वर-संवाद जहाँ है वहाँ प्रायः शंकरजीने ऐसा ही कहा है जैसा मानसमें है। अ० रा० में भी उमा-शंभु-संवाद है। अतः वहाँ भी ऐसा ही कहा है यथा—'**रामोऽपि दृष्ट्वा तां मायासीतां कार्यार्थनिर्मिताम्। अवाच्यवादान्बहुशः प्राह तां रघुनन्दनः॥**' (१२। ७४।-७५) दोनोंमें माया सीतासे ये वचन कहे गये हैं।

प्रभु के बचन सीस धरि सीता। बोली मन क्रम बचन पुनीता॥ १॥
लछिमन होहु धरम कै नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी॥ २॥

अर्थ—प्रभुके वचनोंको शिरोधार्य करके मन, कर्म और वचनसे पवित्र श्रीसीताजी बोलीं॥ १॥ हे लक्ष्मण! धर्मके नेगी बनो (भाव कि हमारे धर्मकी रक्षा करके पुण्य लो)। तुम जल्दीसे अग्नि प्रकट करो॥ २॥

पु० रा० कु०—'*प्रभु के बचन*'। भाव कि ये समर्थ हैं, इनके कर्तव्याकर्तव्यमें दोष नहीं है, यथा—'*समरथ कहुँ नहिं दोष गोसाईं।*' अतः इनके वचन शिरोधार्य किये।

नोट—१ '*प्रभु*' का भाव कि उनका वचन मानना सेवकका परम धर्म है, यथा—'*सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥*' (१। ७७) इसीसे यहाँ 'प्रभु' और 'सीस धरि' दोनों पद दिये।—'*उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। तेहि सेवक लखि लाज लजाई॥*' (ख) दुर्वाद सुननेपर भी अन्तःकरण तप्त न हुआ अतः 'सीता' पद दिया। (पाँड़ेजी)

नोट—२ '*बोली मन क्रम बचन पुनीता*' का भाव कि तन और वचनकी तो बात ही क्या, उनके तो मनका संकल्प भी प्रभुके अतिरिक्त और इधर-उधर कहीं कभी नहीं हुआ, ऐसी वे सीता अपने पातिव्रत्यके बलपर बोलीं। (पं०) पुनः भाव कि इनकी पवित्रता तीनों प्रकारसे दर्शित होगी। यहाँ इन तीनोंका प्रयोजन है। (बं० पा०)

शीला—'नेगी हो' अर्थात् हिस्सेदार बनो। जो कोई किसीके धर्मकी रक्षा करता है वह उसके धर्ममें

साझेदार होता है। अग्निप्रवेशसे हमारे धर्मकी रक्षा होगी अतः तुमको धर्म प्राप्त होगा।

नोट—३ विवाहादि शुभ अवसरोंपर सम्बन्धियों, आश्रितों तथा नाई-बारी आदि काम करनेवालोंको उनकी प्रसन्नताके लिये नियमानुसार कुछ वस्तु या धन जो दिया जाता है उसे 'नग' कहते हैं और नेग पानेवाले या नेगके अधिकारीको 'नेगी' कहते हैं। अतएव 'धर्मके नेगी हो' इसका भाव यह है कि इस शुभ कर्ममें (क्योंकि इससे मेरा दृढ़पातिव्रत्य सिद्ध होगा) तुम योग दो। उस योग देनेके नेगमें तुम्हें 'धर्म' रूपी द्रव्य मिलेगा। तुम पुण्यके भागी होगे। अ० रा० में उन्होंने कहा है कि भगवान् रामके विश्वासके लिये और लोकोंको निश्चय करानेके लिये तुम शीघ्र अग्नि प्रज्वलित करो—'**विश्वासार्थं हि रामस्य लोकानां प्रत्ययाय च।**' (१२। ७७) यही भाव 'धर्मके नेगी' से भी जना दिया है। 'बेगी' अ० रा० का '*शीघ्रं प्रज्वालय*' है। शीघ्रता करनेको कहा जिसमें स्वामीकी आज्ञाके पालनमें देर न हो।

करु०—'नेगी' का भाव कि तुम सदा हमारी आज्ञा मानते आये हो, अतः अब भी मानो, हमारे धर्मकी रक्षा करो।—[नेगी पुराने ही होते हैं सदा कार्यमें योग देते आये हैं। प्रायः नया आदमी नेगी नहीं माना जाता]।

पं० रा० व० श०—लक्ष्मणजीसे क्यों कहा? इससे कि इसी रूपसे उनको दुर्वचन कहे थे, इसीसे अब पूर्वके कटुवचनोंके अपराधका प्रायश्चित्त इन्हींके द्वारा करना चाहती हैं।—(इनके अतिरिक्त दूसरेसे इतना परिचय भी तो नहीं है। लक्ष्मणजीको ही सम्बोधन करनेका एक कारण यह भी हो सकता है कि वे रामवचन सुन अत्यन्त दुःखी हुए थे, यथा—'**उवाच लक्ष्मणं सीता दीनं ध्यानपरायणम्॥ चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम्**'—(वाल्मी० ११६। १७-१८) अर्थात् दीन और ध्यानपरायण लक्ष्मणजीसे बोलीं कि हे सौमित्रि! इस दुःखका औषधरूप चिता हमारे लिये बनाओ। ध्यानपरायण लक्ष्मणकी इस दीनताको दूर करने और उनका शोक मिटानेके लिये उन्हींसे कहा।

नोट—४ वाल्मी० की सीताजीने रामचन्द्रजीको उत्तर दिया है। पातिव्रत्य धर्मके प्रतिकूल और लोकशिक्षाके लिये हानिकारक जान मानसकविने ऐसा नहीं लिखा—यह तो साहित्यिक दृष्टिसे कहा गया और हिन्दू सनातन-धर्मके अनुकूल '*कल्पभेद हरिचरित सुहाए।*'

सुनि लछिमन सीता कै बानी। बिरह बिबेक धरम निति* सानी॥ ३॥
लोचन सजल जोरि कर दोऊ। प्रभु सन कछु कहि सकत न ओऊ॥ ४॥

अर्थ—श्रीसीताजीकी विरह, विवेक, धर्म और नीतिमें सनी हुई वाणी सुनकर, लक्ष्मणजीके नेत्रोंमें जल भर आया। वे दोनों हाथ जोड़े खड़े हैं परंतु वे भी प्रभुसे कुछ कह नहीं सकते†॥ ३-४॥

गौड़जी—मानसकार 'निति' को हेतुके अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। इस प्रसङ्गमें यदि नीति शब्द अभिप्रेत होता तो चौपाईमें लानेके लिये नीतिको सङ्कुचित कर 'निति' कर देनेकी आवश्यकता न थी। 'नय' शब्द मौजूद था। फिर 'धर्म' में नीति वा नयका अन्तर्भाव है अतः नय पुनरुक्तिवत् होता। यहाँ अर्थ है कि वाणी विरह, विवेक और धर्मके हेतुसे सनी थी, भरी थी। विरहका हेतु यह है कि विरहाग्निकी अपेक्षा यह अग्नि बहुत श्रेयस्कर है। विवेकका हेतु यह कि ऐसे दुर्वाद सुनकर अग्निपरीक्षा ही एकमात्र मार्ग है। धर्मका हेतु यह कि प्रभुका गूढ़ आदेश पालनमें तनिक भी देर न हो। (प्र० स्वामीका कहना ठीक है कि 'नीति' का अन्तर्भाव धर्ममें है, इसका विरोध मानसके '*धर्मनीति उपदेसिअ ताही*', '*धर्मराजनय ब्रह्मबिचारू*' इत्यादिसे होता है)।

'बिरह बिबेक धरम निति सानी' इति

यहाँ सीताजीके वचन केवल दो चरणोंमें हैं, '*लछिमन होहु धरम कै नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी॥*' इन्हींको '*बिरह बिबेक धरम निति सानी*' कहते हैं।

* नुति। नुति=स्तुति बखानने योग्य—(का०), छ०। नय-को० रा०। नीति १७२१, १७६२। रतिविश्वेश्वर प्रेस काशी।

† 'एवमुक्तस्तु वैदेह्या लक्ष्मणः परवीरहा। अमर्षवशमापन्नो राघवं समुदैक्षत॥' (वाल्मी० ११६। २०) अर्थात् शत्रु-नाशन लक्ष्मणजी वैदेहीजीके वचन सुनकर असहनशीलताको प्राप्त हो राघवकी ओर ताकने लगे।

पं०—'हे लछिमन! यह आर्तवाक्य विरहका सूचक है। 'होहु' अर्थात् हमारे कल्याणके लिये उद्यत हो, इसमें विवेक है। 'धर्मके नेगी' बनो यह धर्मका वाक्य है और *'बेगि पावक प्रगट करहु'* यह नीतिका वचन है।

बं० पा०—'बेगि' शब्दसे विरहयुक्त शीघ्र मिलनेकी उत्कण्ठा प्रकट होती है; 'पावक प्रगट' से विवेकसिद्धि है और 'धर्मके नेगी' से धर्मसिद्धि है और लक्ष्मणको ही नेगी बनानेसे नय—नीतिकी सिद्धि है।

नोट—१ पति अङ्गीकार नहीं करते इससे विरह हुआ। पातिव्रत्यमें सन्देह होनेसे स्त्रीकी अपकीर्ति है जो मरणसे भी अधिक दाहक है।—*'मरन नीक तेहि जीवन चाही'*—यह विचारकर शरीरको अग्निमें जलाना निश्चित करके अग्नि प्रकट करनेको कहा, यथा—**'मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे।'** (वाल्मी० ११६। १८) यह विवेक है। अग्निसे वैसी ही निकलनेसे धर्मकी रक्षा होगी अतः 'धर्मके नेगी' हो, यह धर्मयुक्त वाक्य हुआ। अग्नि शीघ्र प्रकट करनेमें भाव कि स्वामीकी आज्ञाके पालनमें विलम्ब करनेसे धर्मकी हानि है, वे प्रभु हैं—*'प्रभुके बचन सीस धरि सीता। बोली……।'* और राजा हैं राजाकी आज्ञा तुरंत पालन करना चाहिये यह धर्म और नीति दोनों है। दोहा १०८ (१) देखिये।

'लोचन सजल जोरि करि दोऊ।………' इति।

पं०—सीताजीको देख-(उनके वचन सुन-) कर लक्ष्मणजीको खेद हुआ अतः नेत्र सजल हो गये। 'हाथ जोड़े हुए' से जनाते हैं कि श्रीसीताजीपर कृपा करनेके लिये प्रभुसे विनती करना चाहते हैं, पर संकोचवश कुछ कह नहीं सकते। वा, दोनों हाथ जोड़कर दो आशय जनाते हैं, वह यह कि आप पिता हैं और वे माता हैं, मैं क्या करूँ? (मुझे दोनोंकी आज्ञा कर्तव्य है) वा, जनाया कि पूर्व सीताहरणका दोष मेरे ही सिर पड़ा था—*'जनकसुता परिहरेउ अकेली। आयेहु तात बचन मम पेली॥'……'मम मन सीता आश्रम नाहीं'* और अब प्राप्ति होनेपर जलानेके लिये भी मैं ही चुना जाता हूँ, जलानेका दोष भी मेरे ही सिर आयेगा। अतः मैं क्या करूँ। पूर्व भी मैं वचन नहीं मानता था, उनके कोपके भयसे माना था और अब अग्निमें जलानेकी आज्ञा होनेपर भी डर रहा हूँ कि क्या करूँ। विनती करनेका भी साहस नहीं पड़ता जो आज्ञा हो सो करूँ।

पु० रा० कु०—सेवकका धर्म विचारकर श्रीरामजीकी ओर देखते हैं, बिना उनका रुख पाये कुछ कर नहीं सकते।

नोट—२ लक्ष्मणजीको स्वामी श्रीरामजीका इतना संकोच है कि वे उनके सामने जिह्वा हिलाते डरते हैं—(उन अवसरोंको छोड़कर कि जब वे दूसरोंके द्वारा प्रभुका अपमान देखते या समझते हैं)। यथा—*'भूप बचन सुनि इत उत तकहीं। लखन राम डर बोलि न सकहीं॥'* (बा०) *'कंप पुलक तन नयन सनीरा।……कहि न सकत कछु चितवत ठाड़े। राम बिलोकि बंधु कर जोरे॥'* (अ० ७०) इत्यादि।

इससे जनाया कि हाथ जोड़े प्रभुका रुख देख रहे हैं कि *'मो कहँ काह कहब रघुनाथा'*—मुझे क्या आज्ञा देते हैं? और हुआ भी यही—*'देखि राम रुख।'* ऐसे सेवक और आज्ञाकारी हैं। पर यहाँ शंका होती है कि इन्होंने क्यों न कहा कि यह अनुचित है? पूर्व सिन्धुतटपर तो प्रभुके वचन सुनकर उन्होंने कहा था कि *'नाथ दैव कर कवन भरोसा'*। इतना ही नहीं वरन् श्रीरामजीको आलसीतक सूचित कर दिया था—*'दैव दैव आलसी पुकारा।'* इसमें बड़ा गूढ़ रहस्य है। लक्ष्मणजीने ऐसे कठोर वचन कैसे कहे जब कि इस स्थलको छोड़ और कहीं सेवकभावमें त्रुटि नहीं देख पड़ती? इसका कारण है—श्रीसीताजीका हनुमान्‌जीद्वारा उनको सन्देश—*'लछिमन सहित गहेहु प्रभु चरना।'* जिसका भाव यह है कि तुम भी मेरा अपराध क्षमा करके ऐसा करो कि प्रभु मुझे शीघ्र ले जायँ। तटपर बैठकर समुद्रसे कृपा चाहना इसीसे उनको बुरा लगा, माताका सन्देश सुनकर वे विलम्ब न सह सके। यहाँ उनकी मातृभक्ति और उनका वात्सल्य प्रदर्शित किया है। माताके वे ऐसे उपासक थे।

प्र०—स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ सागरनिग्रहप्रसङ्गके समान वचन न कह सकनेमें उनका रामप्रेम ही कारण है। वहाँ जो कुछ कहा था उसका कारण भी यही था कि उस समय लक्ष्मणजीको ऐसा लगा कि श्रीरामजी अपने ही हाथों अपनेको अपमानित कर लेते हैं और ऐश्वर्यभावसे तथा रघुवीर-प्रभावके विचारसे उनका अनुमान सत्य ही था। विशेष सुन्दरकाण्डमें देखिये।

'ओऊ' शब्दसे जनाया कि सुग्रीव, हनुमान्, विभीषण आदि भी श्रीरामजीसे कुछ कहनेका साहस न कर सके थे, पर उनको आशा थी कि लक्ष्मणजी प्रिय बन्धु हैं, ये अवश्य कहेंगे किंतु जब वे भी न

कह सके तब वे सब अति उदास हो गये। [नोट—यहाँ सती मोहमें कहे हुए *'कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा॥'* (१। ५३। २) चरितार्थ हुआ। इसी कारण कुछ न कहा।]

देखि रामरुख लछिमन धाए। पावक प्रगटि* काठ बहु लाए॥ ५॥
पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदय हरष नहिं भय कछु तेही†॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामजीका रुख (उनके मुखकी चेष्टासे) देखकर लक्ष्मणजी दौड़े और आग प्रगट करके बहुत-सी लकड़ी लाये वा बहुत लकड़ी लाकर अग्नि प्रकट की॥ ५॥ अग्निको खूब प्रज्वलित देखकर विदेहकुमारीजी हृदयमें हर्षित हुईं, उनके मनमें किञ्चित् भी भय न हुआ॥ ६॥

नोट—१ *'देखि रामरुख'.......।'* यथा—'**स विज्ञाय मनश्छन्दं रामस्याकारसूचितम्। चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान्॥**' (वाल्मी० ११६। २१) अर्थात् पराक्रमी लक्ष्मणजीने प्रभुके आकारसे उनके मनके आशयको जानकर तदनुसार चिता बनायी। तथा च '**राघवस्य मतं ज्ञात्वा लक्ष्मणोऽपि तदैव हि। महाकाष्ठचयं कृत्वा ज्वालयित्वा हुताशनम्॥**' (अ० रा० १२। ७८) अर्थात् राघवका मत जानकर बहुत काष्ठसमूह एकत्रकर अग्नि जलायी।

प० प० प्र०—*'देखि रामरुख लछिमन धाए'* के 'धाए' शब्दसे ही कविने लक्ष्मण-स्वभाव-चित्रका मर्म सहजमें ही जना दिया। देखिये, जो लक्ष्मणजी धर्मसङ्कट और शोचमें *'लोचन सजल'* हो गये थे, वे ही श्रीरामजीकी इच्छा केवल उनके मुखादिकी चेष्टासे जानकर दौड़ते ही गये। यहाँ 'बेगी' शब्दकी यथार्थता बतायी। *'पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी'* ये श्रीसीताजीके वचन हैं। श्रीसीताजीकी आज्ञा माननेमें भी वे कितने तत्पर थे!—*'सब ते सेवक धर्म कठोरा', 'हर गिरि ते गुरु सेवक धरमू'।* यहाँ विचार करनेकी बात है कि लक्ष्मणजी कितने जितेन्द्रिय थे। एक निमेषार्धमें ही शोक, चिन्ता आदिका परमोत्साहमें रूपान्तर हो जाता है।

पं०—*'पावक प्रबल देखि बैदेही।'.........'* इति। वैदेहीका भाव कि जिनकी दृष्टिमें देहभाव ही नहीं उनको हर्ष और भय कैसे हो सकते हैं—इस प्रकार 'नहिं' दीपदेहरी है। अथवा, हृदयमें हर्ष है कि (स्वामीकी और लोककी प्रतीतिके लिये इसमें प्रवेश कर) अपने पातिव्रत्यको सत्य करूँगी; इसीसे अग्निका भय नहीं। वा, श्रीरामजीके मिलनेका आनन्द है और भय इससे नहीं कि वास्तविक तन प्रकट होगा।

प० प० प्र०—'हर्ष' का अर्थ उत्साह होनेसे विरोधाभास भी न रहेगा। कार्यारम्भमें उत्साह कार्यसिद्धि सूचित करता है इससे भी भय नहीं हुआ। हर्ष इससे भी हुआ कि लक्ष्मणजी तुरंत सहायक हुए। इससे दैवकी अनुकूलता जानकर हर्ष हुआ। 'वैदेही' होनेपर भी उनको बहुत बार हर्ष-शोक हुआ है। यथा—*'अतिसय दुखित होति बैदेही'* इत्यादि।

नोट—२ *'हृदय हरष नहिं भय कछु'* से वाल्मी० ११६। २३, २४ का यह भाव भी जना दिया कि देवताओं, ब्राह्मणों और श्रीरामजीको प्रणाम करके एवं श्रीरामजीकी और अग्निकी प्रदक्षिणा करके अग्निमें प्रवेश किया। यथा—'**अधोमुखं स्थितं रामं ततः कृत्वा प्रदक्षिणम्। उपावर्तत वैदेही दीप्यमानं हुताशनम्॥ प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली। बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः॥**', *'भय कछु नहिं'*, यथा—'**निःशङ्केनान्तरात्मना**'—(वाल्मी० ११६। २७)।

जौं मम बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥ ७॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना॥ ८॥

अर्थ—यदि मन, वचन और कर्मसे मेरे हृदयमें श्रीरघुवीरको छोड़कर दूसरेकी गति नहीं है तो हे अग्निदेव! आप तो सबके मनकी गति जानते हैं (मेरे भी हृदयकी जानकर) मेरे लिये चन्दनके समान शीतल हो जायँ॥ ७-८॥

नोट—*'आन गति नाहीं'* अर्थात् दूसरेकी शरण नहीं गयी। न मनसे, न वचनसे, न कर्मसे अन्य किसीमें पतिभाव किया। यथा—'**रामादन्यं चेतसापि नाहं जानामि पावक। यदिदं मेऽस्ति सत्यं हि तर्हि त्वं शीतलो भव॥**'

* प्रगटि कृसानु—(का०)। † कछु भय नहिं तेही।—(का०)।

(आ० रा० १। १२। ७) **इति सा शपथं कृत्वा विवेशानलमुत्तमम्।**' अर्थात् हे अग्निदेव! यदि मेरा यह वचन सत्य है कि 'मैं चित्तसे भी रामचन्द्रजीको छोड़ दूसरेको नहीं जानती', तो मेरे लिये शीतल हो जाओ। तथा च '**जानकी (सत्वरम्। ज्वलत्पावकमुपगम्य) भो भगवन्पावक! मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे यदि मम पतिभावो राघवादन्यपुंसि। तदिह दह ममाङ्गं पावकं पावक त्वं सुललितफलभाजां त्वं हि कर्मैकसाक्षी।**' (हनु० १४। ५४) अर्थात् जानकीजी शीघ्रतासे प्रज्वलित अग्निके पास जाकर बोलीं—'हे अग्निदेव! मन, वचन वा तनसे, जागते या स्वप्नावस्थामें भी यदि मेरा पतिभाव रामचन्द्रके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषमें हुआ हो तो आप मेरे शरीरको जला दें; आप सुन्दर फलोंके भोगनेवालोंके कर्मके एकमात्र साक्षी हैं।

पुनश्च यथा—'**यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्। तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥ यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः। तथा लोकस्य''''''॥ कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्। राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः॥**' (वाल्मी० ६। ११६। २५—२७) अर्थात् जिस प्रकार मेरा मन श्रीरामचन्द्रजीकी ओरसे कभी चलायमान नहीं हुआ, मेरा चरित्र शुद्ध होनेपर भी जैसे श्रीरामचन्द्रजी मुझको दुष्ट चरित्रवाली समझते हैं वैसे ही लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब प्रकारसे रक्षा करें। कर्म, वचन और मनसे यदि मैं सर्वधर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीको छोड़ दूसरेको न जानती होऊँ तो अग्निदेव मेरी रक्षा करें।

☞ *'प्रभु के बचन सीस धरि सीता।''''''''''आन गति नाहीं।''''''''*' इति। स्त्रियोंका जो रमणीय गुण है वह इनमें दिखाया गया है। जगन्माता जगदेकनाथके परमवाक्यसे व्यथित होकर भी उन्होंने भर्ताके प्रति किसी कठोर शब्दका प्रयोग नहीं किया। वे अपने कर्तव्यद्वारा दिखाती हैं कि स्वामीका कार्य स्त्रीके लिये प्राणोंसे भी प्यारा है। यही बात उन्होंने वाल्मी० उ० में कही है जब श्रीलक्ष्मणजी उनको वाल्मीकि-आश्रममें छोड़ने गये थे, यथा—'**पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः। प्राणैरपि प्रियं तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः॥**' अर्थात् स्त्रीके लिये उसका पति ही देवता है, पति ही बन्धु है और पति ही गुरु है। इसलिये स्वामीका कार्य स्त्रीके लिये प्राणोंसे भी प्यारा है।

देखिये, इस आपत्तिमें भी पतिके कटुवचन सुननेपर भी वे उनको प्रणाम-स्मरण करना नहीं भूलतीं। जो वचन उन्होंने अग्निके समान कहे *'जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥''''''''*' वाल्मीकीयके वचनोंमें यह है कि 'यदि मेरा हृदय रघुकुलनन्दन श्रीरामके चरणोंसे क्षणभरके लिये भी दूर नहीं होता तो अखिल विश्वके साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें। यदि रघुनन्दन मुझ निर्दोष चरित्रवालीको भी दूषित समझते हैं तो ये लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें।' बतलाइये तो 'मन-कर्म-वचनसे रघुनाथजीको छोड़ मेरी गति दूसरी न हुई हो', 'क्षणभरके लिये भी मन स्वामीसे यदि न हटा हो'—इससे अधिक स्त्रीके लिये शरीर धारण करनेका गुण सम्भवतः और कोई नहीं है। *'गति नाहीं'* में भाव कि किसी पर-पुरुषका मनसे भी चिन्तन नहीं करती, मन-कर्म-वचनसे श्रीरामका ही अर्चन करती हूँ, इनको छोड़ किसी दूसरेको नहीं जानती, क्षणभर भी उनसे मेरा मन नहीं हटा।

छं०—श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति* अति निर्मली॥
प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
प्रभु चरित काहुँ न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे॥ १॥

अर्थ—प्रभुका स्मरण करके चन्दनके समान शीतल अग्निमें मिथिलेशनन्दिनीजीने प्रवेश किया। कोशलपतिकी जय हो कि जिनके चरणोंकी वन्दना महेशजी अत्यन्त निर्मल अनुरागसे करते हैं। प्रतिबिंब बिंबमें लीन हो गया और लौकिक कलंक प्रचंड अग्निमें जल गये। प्रभुके इस चरितको किसीने न लख पाया (यद्यपि) आकाशमें देवता, सिद्ध और मुनि सब खड़े देख रहे हैं।

नोट—*'कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली'* के कई प्रकारसे अर्थ महानुभावोंने किये हैं।

---

* चरनरज—(पाँ०)।

—(१) कोसलेश श्रीरामचन्द्रजी, जिनके चरण महेशजीसे वन्दित हैं और जिनमें जिसकी अति निर्मल प्रीति है, यथा—'*एकै धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा*', उसकी—अर्थात् दोनोंकी जय हो। (पु० रा० कु०) इस प्रकार यह वाक्य श्रीजानकीजीका नहीं रह जाता। (२)—महेशवन्दित कोशलेशके चरणोंमें जिनकी अति निर्मल प्रीति है, उनकी जय हो—(पु० रा० कु०)।—यह भी वाक्य श्रीसीताजीका नहीं है। (३)—अत्यन्त निर्मल प्रीतिसे जिन कोशलेशके चरणकी महेश वन्दना करते हैं उनकी जय हो, इस तरह प्रभुका स्मरण करके""""(पं०)। यह अर्थ इसे सीताजीका वाक्य सिद्ध करता है। (४)—जिनके चरण महेशद्वारा वन्दित हैं और जिनके चरणोंकी प्रीति अत्यन्त निर्मल है।—यह अर्थ पं० रा० कु० के एक खर्रेमें है और आधुनिक कुछ टीकाकारोंने भी यह अर्थ किया है।

(५) 'श्रीसीताजीने स्मरण किया और कहा कि कोशलेन्द्र श्रीरामजीकी जय हो। और जो चरण श्रीशिवजीसे सेवित हैं, उन चरणोंमें अति निर्मली श्रीजानकीजीने प्रीति कर अग्निमें प्रवेश किया।' (बं० पा०) (६) 'श्रीरामजीका स्मरण करके और जिनके चरण श्रीमहादेवजीद्वारा वन्दित हैं तथा जिनमें श्रीसीताजीकी अत्यन्त विशुद्ध प्रीति है, उन कोशलपतिकी जय बोलकर श्रीजानकीजीने"""""।' (मानसाङ्क) (७) 'जिनके चरणोंकी अत्यन्त निर्मल प्रीति शिवजीद्वारा वन्दित है'। (पां०) (८) जिनके चरणोंके अत्यन्त निर्मल अनुरागके कारण श्रीमहादेवजी वन्दित हैं (ऐसा भी अर्थ हो सकता है)। (९) 'महेश-वन्दित कोशलेश-चरणरतिसे जो अति निर्मली हैं उन सीताजीकी जय।' (प० प० प्र०) इस अर्थके प्रमाणमें स्वामीजी लिखते हैं कि '*प्रान प्रिय प्रेम पुनीता*' यह वचन श्रीसीताजीके लिये ही आ० ३२० (१) में आया है वही यहाँ 'चरनरति अति निर्मली' है। यह वाक्य श्रीलक्ष्मण-सुग्रीव-विभीषणादिका तथा कवि-वक्ताका भी लेना उचित होगा। कारण कि उन सबोंका विश्वास है कि श्रीसीताजी परमपवित्र हैं।

☞ शिवजीने जब-जब वन्दना की है तब-तब उनका निर्मल प्रेम मानसमें बराबर देख पड़ता है और राज्याभिषेक होनेपर उन्होंने चरणोंमें अनपायिनी भक्तिका वर माँगा है। यथा—'*परम प्रीति कर जोरि जुग नलिन नयन भरि बारि। पुलकित तन गदगद गिरा बिनय करत त्रिपुरारि॥*' (११३), '*बैनतेय सुनु संभु तब आए जहँ रघुबीर। बिनय करत गदगद गिरा पूरित पुलक सरीर॥ बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥*' (उ० १३-१४) इससे यह अर्थ विशेष सङ्गत है कि 'अति निर्मल अनुरागसे जिन चरणोंकी वन्दना शङ्करजी करते हैं उनकी जय हो।'

पं०—'जय' बोलनेका भाव कि नीति-अनुसार सीताजीने विचार किया कि मेरे धर्मके रहनेसे रघुनाथजीकी भी जय और यश होगा।

पां०—मैथिली नाम इससे दिया कि बड़े क्लेशसे मन्थन करनेपर निकलीं। ['*मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी।*' (कि० ५। २) में देखिये। जिन मैथिलीजीके लिये लंका जलायी गयी, सेना एकत्र की गयी, समुद्र बाँधा गया, घोर युद्ध हुआ इत्यादि क्लेश उठाया गया वे ही पावकमें समा गयीं।]

पं०—पावक-प्रवेश-प्रसंगमें प्रभुके चरणोंको महेशवन्दित कहनेका भाव कि शिवजीके तीसरे नेत्रमें सदा अग्निका वास है, जिससे वे सर्वजगत्‌को प्रलयमें जलाकर भी श्रीरामजीके ध्यानके प्रभावसे शीतल बने रहते हैं; इसीसे श्रीसीताजीने इन विशेषणोंसे श्रीचरणका स्मरण किया। उसके प्रभावसे अग्नि शीतल हो गयी।

पु० रा० कु०—यहाँ मन, कर्म और वचन तीनों दिखाये हैं। मनसे स्मरण किया—'*सुमिरि प्रभु*'; कर्म (तन) से आज्ञा-पालन की—'*पावक प्रबेस कियो*', और वचनसे '*जय कोसलेस*' कहा।

'प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे'

मा० म०, पं०—मूलमें लिखा है कि अग्नि चन्दनसमान शीतल हो गया। शीतल अग्निमें कोई जल नहीं सकता। दूसरे प्रतिबिंबके जलनेसे '*मो कहँ होउ श्रीखंड समाना*' (अर्थात् मुझे न जलाओ), यह प्रतिज्ञा असत्य होती है और मन-कर्म-वचनसे श्रीरामजीकी अनन्यगति होना भी झूठ हो जाती है। इन कारणोंसे माया-सीताका जलना असिद्ध है। केवल कलंकका जलना सिद्ध होता है। अर्थात् अग्नि-प्रवेशसे कलंकका नाश हो गया और प्रतिबिंब बिंबमें लीन हो गया।

पं०—अर्थ तो बनता है पर यहाँ '*जरे*' बहुवचन है और कलंक एकवचन है, यह दोष आता है।

इस दोषकी निवृत्ति इस प्रकार होती है कि *'कलंक'* से दुष्टोंके मनके कल्पित सभी कलंकोंका यहाँ ग्रहण होगा जो प्रसंगानुकूल हों।

वीर—प्रतिबिंब और कलंक अग्निमें जलनेवाली वस्तु नहीं हैं तो भी उन्हें जलनेको कहा गया, यह रूढ़िलक्षणा है। यहाँ मुख्यार्थका बाध है, लक्षणाशक्तिसे परछाहींका जलना कहा गया है। *'मुख्य अर्थको बाध पै, जगमें बचन प्रसिद्ध। रूढ़िलक्षणा कहत हैं ताको सुमति समृद्ध॥'*

नोट—१ इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि *'जरे'* क्रिया अन्तिमपद कलंकके विचारसे दी गयी। पर अर्थ जैसा संगत हो वैसा ही करना होगा। यथा—*'मुठिकन्ह लातन्ह दाँतन्ह काटहिं।'* (५२।५) में *'काटहिं'* *'दाँतन्ह'* के सम्बन्धसे कहा गया, मुष्टिका और लातसे काटना नहीं कहा जाता। *'मुठिकन्ह लातन्ह'* के प्रसंगानुकूल *'मारहिं'* क्रियाका अध्याहार यहाँ कर लेना होगा। पुनः, इसी तरह सुन्दरकाण्डके *'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥'* में ताड़न क्रिया ढोलके सम्बन्धसे दी गयी। इस प्रकार *'जरे'* क्रियामें कोई आपत्ति नहीं आती और न उसके अन्य अर्थ खींचतानसे निकालनेकी आवश्यकता है। 'अरे' का अर्थ 'जड़े' करनेकी जरूरत भी नहीं जैसा कुछ महानुभावोंने किया भी है। *'पावक'* के सम्बन्धसे *'जरे'* का अर्थ 'जलना' ही ठीक है न कि जड़ना। नोट—२ प्रतिविंब=माया-सीता, यथा—*'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥'* (३। २४। ४) वही प्रतिविंब अपने बिंबमें लीन हो गया। आनन्दरामायणसे भी प्रतिबिंबका बिंबमें मिलना सिद्ध होता है, यथा—**'सुभूषितां पावकेन स्वाङ्के संस्थापितां शुभाम्। पञ्चवट्यां स्वयं तत्र पुरा न्यस्तां च पावके। आलिङ्ग्य जानकीं रामो निजाङ्के संन्यवेशयत्॥ तामसी राजसी चैव सात्त्विकी या त्रिधा पुरा। जाता रावणघातार्थं सा जातैकत्र वै तदा॥'** (९—११) अर्थात् सुन्दर भूषणोंसे भूषित शुभरूपा जानकीजीको अपने अङ्कमें स्थापित करके, जैसे पञ्चवटीमें पहले रामजीने समर्पण किया था वैसे ही अग्निने उनको समर्पण किया। श्रीरामजीने जानकीजीको हृदयसे लगाकर अङ्कमें स्थापित किया। तामसी, राजसी तथा सात्त्विकी तीन प्रकारकी शक्तियाँ जो पहले रावणके विनाशार्थ प्रकट हुई थीं वे सब श्रीविदेहराजकुमारीमें एकत्र लीन हो गयीं।

गौड़जी—वास्तवमें राम-सीता-वियोग तो हुआ नहीं। रामचन्द्रजीने ललित नरलीला की है—*'मैं कछु करब ललित नर लीला।'* उसे निबाहनेके लिये यह लौकिक व्यवहार दिखाया है। अन्तमें प्रतिबिंबको वास्तविक अंशमें मिलाना है। इसी कारण प्रतिबिंबका लय होना दिखाकर सीताजीका स्वतः पूर्वरूपमें प्रकट होना दिखाया, क्योंकि अग्निप्रवेशके समय, *'श्रीखंड सम पावक भयो।'* रहा लौकिक कलंक उसके लिये कविने ऐसा दिखाया है कि *'प्रचंड पावक महँ जरे।'* देखिये, ज्यों ही सीताजी अनलसे निकलीं त्यों ही लौकिक कलंकका नाश हुआ और यह कीर्तिकौमुदी चतुर्दिक् फैल गयी कि सीताजी शुद्ध और सच्ची पतिव्रता हैं, क्योंकि अग्नि भी उन्हें न जला सका।

प्रतिबिंबका जलना कहा है सो स्वतः सीताजीके प्रकट होनेके कारण कहा है। प्रतिबिंब तो रूपके देवता अग्निका रचा कृत्रिम था। वास्तविक सीताजीका स्थानापन्न था। जब असली सीताजी आ गयीं तब उसका अग्निमें समा जाना अनिवार्य था। प्रतिबिंब अग्निमें जल गया, गुप्त वा विलीन हो गया, क्योंकि उसकी आवश्यकता न रह गयी।

इस सम्बन्धमें अनेक कथाएँ कही जाती हैं। कहीं वेदवतीको सीताका रूप कहा है, कहीं-कहीं प्रतिबिम्बको पाञ्चालीका रूप कहा है। परंतु मानसकार कविका आन्तरिक अभिप्राय स्पष्ट है।

अयोध्याकाण्डमें जब वनमें भरतादि रघुनाथजीसे मिलनेके लिये आये तब सासुओंकी सेवा करनेके लिये उतने ही रूप सीताजीने धारण किये, जितनी कि सासुएँ थीं।—*'सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥'* वह सब रूप भी सीताजीमें ही लय हो गये। ग्रन्थकारने भगवती श्रीसीताजीमें नर-लीलाके साथ-ही-साथ अनेक स्थलोंमें ऐश्वर्य भी दिखाया है। 'जरे' का अर्थ 'जड़े' करके भी लोग समाधान करते हैं, परंतु यह युक्ति ठीक नहीं बैठती।

प० प० प्र०—'प्रतिबिम्ब' शब्द तीन जगह आया है। *'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता।'* (३। २४। ४), यहाँ और *'दोउ बिजयी बिनयी गुन मंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर॥'* (३०) तीनों जगह इसका अर्थ 'प्रतिकृति' है; अन्यथा प्रतिबिम्बको कोई उठा नहीं ले जा सकता और

न वह बोलता आदि है। प्रतिबिम्बका जलना अनलमें समाना है। मिलान कीजिये—'*प्रभु पद धरि हिय अनल समानी।*' (३। २४। ३) विशेष ३। २४। ४ में देखिये।

करु०—देवताओंके विषयमें प्रतिबिम्ब सुननेमें नहीं आया तब श्रीजानकीजीके विषयमें प्रतिबिम्ब कैसे सम्भवित हो? इसका समाधान यह है कि लीलाहेतु प्रतिबिम्ब कर लिया। जिस प्रतिबिम्बद्वारा लक्ष्मणजीको दुर्वचन कहे गये वह भस्म हो गया और निज सत्य प्रतिबिम्ब श्रीजानकीजीमें प्राप्त (लीन) हो गया। किंतु प्रतिबिम्बके विषयमें जो लौकिक कलंक था वह भस्म हो गया।

नोट—३ '*प्रभु चरित काहु न लखे*……' इति। भाव कि सबने यही जाना कि आदिशक्ति सत्य श्रीसीताजीहीने अग्निमें प्रवेश किया। जैसे अरण्यकाण्डमें प्रतिबिम्बको श्रीलक्ष्मणजी असली सीताजी ही जानते थे। वहाँ प्रभुके उस चरित्रको उन्होंने जाना, उसी तरह यहाँ देव-सिद्धादिने प्रभुका यह चरित्र न जान पाया कि असली सीताजी अग्निमें हैं, उनको प्रकट करनेके लिये यह चरित्र हुआ। जो सीताजी अग्निमें प्रविष्ट हुईं वे प्रतिबिम्ब थीं।

छं०—धरि* रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो।
जिमि क्षीरसागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो॥
सो राम बाम बिभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।
नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक पंकज की कली॥ २॥

अर्थ—अग्निने रूप धारण करके हाथसे सत्य (मायावाली नहीं) श्रीजानकीजीको, जो श्रुतियोंमें और जगत्‌में प्रसिद्ध हैं, पकड़कर श्रीरामचन्द्रजीके पास लाकर इस तरह समर्पण किया जैसे क्षीरसागरने लक्ष्मीको (विष्णुभगवान्‌को) समर्पण किया था।† वे श्रीरामजीके वामभागमें सुन्दर विराजमान अत्यन्त भली शोभाको प्राप्त हैं।‡ मानो नवीन खिले हुए नीले कमलके पास सोनेके कमलकी कली शोभित हो रही हो।

नोट—१ यहाँ '*श्री*' पदसे सब कल्पोंकी कथा जना दी। 'श्री' श्लेषार्थी है, श्रीजानकीसहस्रनाममें उनका एक नाम 'श्री' भी है। पुनः 'श्री' लक्ष्मीका भी नाम है। विष्णुशक्ति भी लक्ष्मी हैं और श्रीमन्नारायणकी शक्ति भी लक्ष्मी हैं। नोट—२ '*सत्य*' अर्थात् मायानिर्मित या प्रतिबिम्ब नहीं। मनु-शतरूपा-दाशरथी-रामावतार-प्रसंगमें 'सत्यश्री' वे हैं कि '*जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी। भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥*' (१। १४८) और कश्यप-अदिति-दाशरथी-रामावतारमें लक्ष्मीजी 'सत्यश्री' हैं। नोट—३ (क)—'*जिमि क्षीरसागर इंदिरा*' का भाव कि पुत्रिवत् और प्रभुकी नित्य-शक्ति जानकर। (ख) '*समर्पी*' का भाव कि यह प्रभुकी ही थाती थी सो उनको सौंप दी—'**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्**'। ऐसा ही पार्वतीजी और सीताजीके व्याहमें कहा गया है, यथा—'*भवहि समरपी जानि भवानी।*' (१। १०१। २), '*हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी*……*।*' (१। ३२४) (प्र० सं०) यहाँ विवाहके समयके दो उदाहरणोंमेंसे केवल एक ('श्री सागर दई') देनेका कारण यह है कि अग्निदेवने माता-पिताके समान श्रीसीताजीका पालन-पोषण नहीं किया, सीताजी उनके यहाँ केवल थातीरूपमें थीं; अतः वे (थाती) लौटा दी गयीं। लक्ष्मीजी क्षीसागरमें थीं। मन्थनसे निकालनेमें भी 'हरि' ही कारणीभूत थे, जैसे सागरने उनकी वस्तु उनको दी वैसे ही अग्निने प्रभुकी थाती प्रभुको दी। (प० प० प्र०) स्मरण रहे कि दुर्वासाके कोपसे लक्ष्मीजी समुद्रमें लुप्त हो गयी थीं, वैसे ही श्रीरामजीकी इच्छासे श्रीसीताजी अग्निमें समा गयी थीं। वहाँ समुद्रकी वे पुत्री न थीं। यहाँ सीताजी अग्निकी पुत्री न थीं। दोनोंने थाती पायी थी, उसे लौटा दी। दोनोंने उनको पुत्री-समान माना।

पां०—'सोनेके कमलकी कली' इससे कहा कि उनका सर्वाङ्ग आच्छादित है। रघुनाथजीका सर्वाङ्ग

* तब अनल भूसुररूप कर गहि सत्य श्री श्रुति बिदित जो। (बं०)

† उदाहरण अलंकार। ‡ 'स्वाङ्के समावेश्य सदानपायिनीं श्रियं त्रिलोकीजननीं श्रियःपतिः। दृष्ट्वाथ रामं जनकात्मजायुतं श्रिया स्फुरन्तं सुरनायको मुदा॥' (अ० रा० १३। २३)

प्रत्यक्ष है अत: उनको कमल कहा।

रा० प्र०, पु० रा० कु०—'*कनक पंकज की कली*'। श्रीसीताजी लज्जावश संकुचित हैं इसीसे कलीकी उत्प्रेक्षा की गयी।—'**लज्जया त्ववलीयन्ती स्वेषु गात्रेषु मैथिली।**' (वाल्मी० ११४। ३३)—[नोट—सुवर्णवर्ण होनेसे कनक-कमलकी उपमा दी और श्यामवर्ण होनेसे नील कमलकी।]

वै०—प्रभु तो पूर्वहीसे प्रसन्न थे, इससे उन्हें खिला हुआ कमल कहा और सीताजी शोकसागरसे अभी निकली हैं, इससे उन्हें कली कहा।

दो०—बरषहिं सुमन हरषि सुर* बाजहिं गगन निसान।
गावहिं किंनर सुरबधू† नाचहिं चढ़ी बिमान॥
जनकसुता‡ समेत प्रभु सोभा अमित अपार।
देखि भालु कपि हरषे§ जय रघुपति सुखसार॥ १०८॥

अर्थ—देवता हर्षित होकर फूल बरसाते हैं। आकाशमें नगाड़े बज रहे हैं। किन्नर गा रहे हैं और विमानोंपर चढ़ी देववधूटियाँ (अप्सराएँ) नाच रही हैं। श्रीजानकीजीसहित प्रभु श्रीरामचन्द्रजीकी अमित और अपार शोभाको देखकर रीछ और वानर हर्षित हो गये और सुखके सार श्रीरघुनाथजीकी जय बोलने लगे॥ १०८॥

पु० रा० कु०—अमित और अपारका एक ही अर्थ है। अमित शोभा श्रीसीताजीकी और अपार शोभा श्रीरामजीकी। अथवा, अत्यन्त आदरके लिये दो शब्द दिये।

नोट—१ (क) '*अमित*' का अर्थ है—परिमाणरहित, जिसके विषयमें यह न कहा जा सके कि कितनी है, यथा—'*राम अमित गुनसागर थाह कि पावै कोइ।*' अपार (=जिसका पार न पा सकें) का भाव कि जिस अङ्गपर दृष्टि जानी है उसीमें डूब जाती है, आगे पहुँच भी नहीं सकती, एक सिरेसे दूसरेतक जा नहीं सकती। यथा—'*रूप अपार मार मद मोचन*', '*जहाँ जाइ मन तहहिं लुभाई*'। पुन: (ख) '*अमित अपार*'=इतनी अमित है कि उसका वर्णन करके कोई पार नहीं पा सकता, यथा—'***सोभा अमित को बरनइ पारा।***' यह भाव जनानेके लिये अमित और अपार दोनों विशेषण दिये।

नोट—२ '*देखि भालु कपि हरषे*……।' इति। (क) पं०, रा० प०—वानर-भालु श्रीसीतासंयुक्त प्रभुकी शोभा देखकर एवं यह समझकर प्रसन्न हुए कि जिनके लिये अनेक उद्योग और प्रयत्न किये गये वे प्राप्त हुईं, हमारे परिश्रम सफल हुए। पुन:, (ख) '*देखि भालु कपि हरषे*' से यह भी ध्वनित होता है कि जब प्रभुने श्रीसीताजीको दुर्वचन कहे और वे अग्निमें प्रविष्ट हुईं तब उनको शोक हुआ था, जिनके लिये इतना परिश्रम किया, उनकी प्राप्ति होना न होना बराबर हो गयी, हमारा परिश्रम भी व्यर्थ हुआ। (ग) '*सुखसार*'=सुखके प्रधान स्वरूप।

सीता-रघुपति-मिलन-प्रकरण समाप्त हुआ।

'सुरन्ह कीन्हि अस्तुति'-प्रकरण

तब रघुपति अनुसासन पाई। मातलि चलेउ चरन सिरु नाई॥ १॥
आए देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी॥ २॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा पाकर इन्द्रका सारथि मातलि चरणोंमें सिर नवाकर चला गया॥ १॥ तदनन्तर सदाके स्वार्थी (मतलबी) देवता आये, परंतु वचन वे ऐसे कह रहे हैं मानो बड़े परमार्थी हैं॥ २॥

नोट—१ ☞ यह प्रसङ्ग अ० रा० १२ में विभीषण-राज्याभिषेकके पहले है, और वाल्मी० ११२ में मन्दोदरी-विलाप, रावण-मृतक-संस्कारके बाद और विभीषण-राज्याभिषेकके पहले है।

२ (क) '*आए*' शब्दके तथा '*देव*' शब्दके अनन्तर किंचित् विश्राम कर-करके इस चरणको पढ़नेसे

* हरषि सुमन बरषहिं बिबुध। † अपछरा। ‡ श्रीजानकी। § 'देषत हरषे भालु कपि।

सुन्दर नाट्य प्रतीत होता है। *'आए', 'देव', 'सदा स्वारथी',* यथा—इस प्रकार *'आए'* को अलग उच्चारण करनेसे 'उपहासात्मक' भाव निकलता है। (प० प० प्र०) (ख) *'सदा स्वारथी',* यथा—*'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥'* (४। १२। २); *'स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू। भरत दोसु नहिं राउर मोहू॥'* (२। २२०। २) *'बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥'* (२। २९५), *'सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु।'* (अ० २९५)

वीर—स्वार्थी मनुष्य अपना मतलब साधनेके लिये मुमुक्षुओंकी तरह बनाकर बातें करते ही हैं, यह उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

प० प० प्र०—*'आए'*······' में 'सुरगण' शब्द लिखनेसे मात्रापूर्ति हो जाती और 'स' का अनुप्रास चारुतर हो जाता; पर कविको बताना था कि देव (द्युतिमान, प्रकाशमान) होनेपर भी उनको जो स्वर्गसे मृत्युलोकमें लङ्काकी रणभूमिमें आना पड़ा, उसमें उनकी केवल स्वार्थपरायणता ही कारण है। *'ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥'* सरस्वतीके इस वचनको चरितार्थ किया। उपदेश यह है कि स्वार्थी व्यक्तिकी ऐसी दशा होना स्वाभाविक है। (२) स्वर्गस्थ सुर दम्भी हैं यह आश्चर्यकी बात दूसरे चरणसे स्पष्ट सूचित की और जहाँ दम्भ है वहाँ कपट-मद-मानादिका निवास होगा ही। (३) *'सदा स्वारथी'*—यह इस स्तुतिके आदि, मध्य और अन्तकी अर्धालीमें एक ही प्रकारका वृत्तदोष जान-बूझकर निर्माण करके जनाया कि वे आदि, मध्य और अन्तमें भी स्वार्थी और दम्भी हैं [नोट—*'जनु परमारथी'* का भाव कि वचन वस्तुत: परमार्थके नहीं हैं और न वे परमार्थी हैं। इन वचनोंमें वाड्मात्र परमार्थ है, सुननेमात्रमें वे परमार्थीके वचन हैं, पर उनमें परमार्थ है नहीं। *'दीनबंधु दयाल'* से जनाया कि हम सब दीन थे, आपने हमपर नि:स्वार्थ दया की। आप रघुवंशी राजा हैं, आपने उस कुलके अनुसार ही हम सबोंकी रक्षा की। प्र० स्वामी कहते हैं कि प्रभुको भी *'देव'* कहकर अपनी और प्रभुकी बराबरी सूचित की, स्वार्थी ही तो हैं।]

दीनबंधु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्ह पर दाया॥ ३॥
बिस्वद्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गएउ कुमारगगामी॥ ४॥

अर्थ—हे दीनबन्धु, दयालु, रघुराज! हे देव! आपने देवताओंपर कृपा की॥ ३॥ सारे संसारसे द्रोह करनेमें तत्पर यह दुष्ट, कामी और कुमार्गपर चलनेवाला रावण अपने ही पापोंसे नष्ट हो गया॥ ४॥

पं०—*'बिस्वद्रोहरत यह खल कामी।*··········' इति। (क) कामी ऐसा कि जहाँ सुन्दर कन्याएँ और स्त्रियाँ सुनता उन्हें जबरदस्ती ले आता था, यथा—*'देव जच्छ गन्धर्ब नर किंनर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर नर नारि॥'* (१। १८२) (ख) *'देव कीन्हि देवन्ह पर दाया'* कहकर 'विश्वद्रोहरत' कहनेका भाव यह है कि हम देवताओंकी ही क्या कही जाय वह तो सारी सृष्टिका द्रोही था। (कैसे जाना कि विश्वद्रोही था, उसपर कहते हैं कि वह दुष्ट कामी था, कामवश सबका वैरी बन बैठा।) (ग)—*'कामी'* कहकर *'कुमारगगामी'* कहनेका भाव कि एक यही दोष न था, वरन् वह तो सब दोषोंसे पूर्ण था, कहाँतक दोष वर्णन किये जायँ।

पु० रा० कु०—*'यह खल कामी'* कहा, रामविरोधी जानकर नाम न लिया। यथा—*'अब जनि नाथ खेलावहु एही', 'काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥', 'रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान। आसिष देइ गई सो*········*।'* इत्यादि। इस प्रकार कथन करनेकी ग्रन्थकारकी परिपाटी है।

वि० त्रि०—'विश्वद्रोहरत' से पापकी पराकाष्ठा कहा, खल कहकर *'बिनु कारण अपकारी'* कहा। कामी कहकर उसके द्वारा बाहुबलसे देवकन्याओंका वरण कहा। अब कहते हैं कि वही पाप उसे खा गया। उसकी तबीयत इतनी बढ़ी कि जगदम्बाको हरण कर लाया। सरकारने तो बहुत चाहा कि यह न मरे (यथा—*'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥'*) परंतु उसने एक न माना। यथा—*'पुनि कपि कही नीति बिधि नाना। मान न ताहि काल नियराना॥'* अत: वह कुमारगगामी अपने पापसे ही गया।

प० प० प्र०—*'यह खल'* इति। रावणका संस्कार भी हो गया, वह यहाँ है नहीं, तब 'वह' कहना था। 'यह' शब्दसे जनाया कि अभी पूर्णतया रावणका भय उनके हृदयसे गया नहीं है। उनको ऐसा लग

रहा है मानो वह सामने ही है। २ हनुमान्‌जीने *'मारहिं मोहिं कुमारग गामी'* ऐसा कहकर अप्रत्यक्ष रीतिसे रावणको 'कुमारगगामी' कहा, वैसे ही ये कह रहे हैं।

तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एकरस सहज उदासी॥५॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघ सक्ति करुनामय॥६॥

अर्थ—आप तो समरूप, ब्रह्म, नाशरहित, सदा एकरस, स्वभावसे ही उदासीन (शत्रु-मित्र-मध्यस्थभावरहित), कलारहित (परिपूर्ण), निर्गुण (मायिक गुणोंसे रहित एवं अव्यक्त गुणवाले), अजन्मा, निष्पाप, विकाररहित, अजेय, अमोघशक्ति (अर्थात् जिनका पराक्रम वा शक्ति कभी व्यर्थ वा निष्फल नहीं होता) और करुणामय हैं॥५-६॥*

नोट—१ *'तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी।.........'* इति। 'समरूप' अर्थात् किसीके शत्रु और किसीके मित्र ऐसा नहीं है, सुर-असुर सभीपर आपकी समदृष्टि है, यथा—*'सब पर मोरि बराबरि दाया'।* पुनः, 'सम' का भाव कि न किसीपर राग न किसीपर रोष, राग-रोषरहित, न किसीका पुण्य लें न किसीका पाप, जो जैसा करता है उसको वैसा फल मिलता है, यथा—*'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'* (अ० २१९) यही भाव सूचित करनेके लिये ये विशेषण यहाँ दिये हैं। जो ऊपर कहा है कि *'निज अघ गएउ कुमारगगामी',* उसीको यहाँ पुष्ट कर रहे हैं। [यहाँ 'रूप' प्रत्यय प्रशंसा अर्थमें है। यथा—'**अत्र प्रशंसायां रूपप्रत्ययो ज्ञेयः**' (पु० रा० कु०)। शत्रु-मित्र-भावरहित] समभाव होनेका कारण यह है कि आप परब्रह्म परमात्मा हैं। [भाव कि आप सबसे बृहत् हैं। (पं०, वं० पा०) ब्रह्म हैं। अतः अविनाशी हैं और सदा एकरस हैं। सदा अर्थात् कालत्रयेऽपि, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें। यथा—'**अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यते त्वं परन्तप।**' (वाल्मी० ११७। ९) [चं० सं० में '**अन्ते चादौ च लोकानां दृश्यसे त्वं परन्तप**' पाठ है] *'सदा एकरस',* यथा—*'त्रिभुवन तिहुँ काल बिदित बदत बेद चारी। आदि अंत मध्य राम साहिबी तुम्हारी॥'* (वि० ७८), *'तुम्ह चहुँ जुग रस एक राम।'* (वि० २६६) (पु० रा० कु०)। पुनः 'सदा एकरस' कहकर जनाया कि आपमें कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, आप विकारशून्य हैं, आप जीव नहीं हैं; क्योंकि जीवमें आनन्दादि एकरस नहीं रहते। (पं०, रा० प्र०) *'सहज उदासी'* का भाव कि आप तपस्वीवेश धारण किये हैं, यथा—*'तापसबेष बिसेषि उदासी। चौदह बरस राम बनबासी॥'* इस वेषके कारण उदासीनभाव हो, ऐसी बात नहीं है वरन् यह आपका सहज स्वभाव है।

नोट—२ *'अकल अगुन.........'* इति। (क) अकल अर्थात् प्राकृतरूपरहित। (रा० प्र०), कलारहित किंतु परिपूर्णावतार। यथा—'**अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघवः।**' (वाल्मी० ११७। १४) [अर्थात् आप अक्षर सत्य ब्रह्म हैं, सृष्टिके मध्य और अन्तमें वर्तमान रहनेवाले भी आप ही हैं। (पु० रा० कु०)] वेद बताते हैं कि ब्रह्म पूर्ण है और पूर्णसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बचता है। यथा—'**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।**' (ईश० शान्तिपाठ) अतः ब्रह्म कहकर फिर 'अकल' विशेषणसे जनाया कि आपका रघुनाथरूप भी पूर्ण ब्रह्म है। (ख) *'अगुन'*=त्रिगुणातीत; सत्, रज, तम जिसको ईश्वर योगमाया, सबका कारण-प्रधान आदि मानते हैं उन सबसे भिन्न। (ग) अज अर्थात् आप जन्म-विकाररहित हैं, आपने केवल रावणवधार्थ मनुष्य-देह धारण की है, यथा—'**बधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्।**' (वाल्मी० ११७। २८) आपका जन्म जीवोंकी तरह कर्मके वश नहीं होता, वरन् अपनी इच्छासे आप अवतार लेते हैं। *'अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी।'* (१। ५१) नहीं तो आप तो अजन्मा हैं। आपका कभी किसीसे जन्म नहीं हुआ और न होता है। आप प्रकट होते हैं। अनघसे रावणवधजनित दोषका निराकरण दिखाया। 'अनामय' अर्थात् समस्त उपाधिजनित रोगरहित

* पहले देवताओंने विशेष बात कही कि आपने देवताओंपर बड़ी कृपा की जो इस दुष्टको मारा। फिर कहते हैं कि यह कुमार्गी अपने ही पापोंसे नष्ट हुआ, इस बातका विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करना कि आप निर्गुण ब्रह्म, उदासीन, निर्विकार हैं, 'विकस्वर अलंकार' है। (वीर)

साक्षात् विज्ञानरूप, यथा—'*चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥*' (पु० रा० कु०) (घ) अजित—'**केनापि न जितः अजितः खड्गधृग्विष्णुः।**' (वाल्मी० ११७)।' अजित हैं अतः अमोघशक्ति हैं। '**अमोघं देव वीर्यं ते**' अर्थात् सफल है वीर्य जिनका। '*करुणामय*' का भाव कि हम सबपर करुणा करके अवतार ले आपने रावणवध करके हमको उबारा। यथा—'**रावणेन हृतं स्थानमस्माकं तेजसा सह। त्वयाद्य निहतो दुष्टः पुनः प्राप्तं पदं स्वकम्॥**' (अ० रा० १३। ८) अर्थात् रावणने तेजसहित हमारे निवास-स्थान छीन लिये थे, उसके मारे जानेसे हम पुनः अपने पदको प्राप्त हुए। पुनः यथा—'*तुम्ह प्रभु सब देवन्ह निस्तारा*', '*दीनबंधु दयाल रघुराया। नाथ कीन्ह देवन्ह पर दाया॥*' (ङ) '*करुनामय*' शब्द अवतार-हेतुका सूत्र है, अतः प्रथम करुणामय कहकर तब अवतार गिनाते हैं—'*मीन कमठ.........।*' (पु० रा० कु०)

मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ ७॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो*। नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो॥ ८॥

अर्थ—आपने ही मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन और परशुराम शरीर धारण किये॥ ७॥ हे नाथ! जब-जब देवताओंने दुःख पाया तब-तब अनेकों शरीर धारणकर आपहीने उनके दुःखका नाश किया॥ ८॥

बं० पा०—'*मीन कमठ.........।*' इति। युग और अवतारोंके क्रमसे यहाँ अवतारोंके नाम दिये। छः अवतार श्रीरामावतारके पूर्व सत्ययुग और त्रेतामें हुए थे, इससे छःके नाम दिये।

प० प० प्र०—'*जब जब नाथ.........*' इति। जब यह स्मृति आयी कि इनके सिवा हम लोगोंका दुःख दूर करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, यदि ये कृपा न करें तो अनाथवत् ही रहना पड़ता है, तब 'नाथ' सम्बोधन करते हैं।

नोट—१ '*नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो*' इति। भाव कि मुख्य अवतार ये हैं, पर इतने ही नहीं हुए, आपके अगणित अवतार (अंश, कला, आवेश आदि) होते हैं जब जैसी आवश्यकता पड़ती है, यथा—'**अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥**' (भा० १। ३। २६) अर्थात् सत्त्वमूर्ति भगवान्‌के ऐसे ही अनेक अवतार हैं जिनकी गिनती नहीं हो सकती, जैसे अक्षय अथाह सरोवरसे सहस्रों छोटे-छोटे सोते निकलते हैं। पुनः भाव कि आपकी कृपा हमपर सदासे चली आयी है। नोट—२ पूर्व अजन्मा कह आये और अब कहते हैं कि आप मीन-कमठादि शरीर धारण करते हैं, इसमें विरोधभास है पर वस्तुतः विरोध नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी ईश्वरता इससे प्रमाणित होती है कि वह अजन्मा होते हुए भी जब जन्म ग्रहण करनेकी इच्छा करता है तब इच्छानुसार अवतार भी लेता है। ईश्वर और जीवके जन्ममें भेद है। ईश्वरका शरीर चिदानन्दमय होता है, उसका शरीर मायाकृत पञ्चतत्त्वरचित नहीं होता और वह कर्माधीन नहीं है। इसके विपरीत जीव कर्माधीन जन्म लेता है और उसका शरीर अनित्य पञ्चतत्त्वका बना होता है।

प० प० प्र०—'*आये देव सदा स्वारथी।.........*' इस प्रथम अर्धालीके पश्चात् अब '*मीन कमठ.........*' इस मध्यकी अर्धालीमें पुनः मात्राओंकी न्यूनता करके जनाया कि इन देवताओंके स्वार्थसाधनके लिये ही मीन, कमठ, शूकर ऐसी नीच योनियोंमें अवतार लेकर कष्ट उठाने पड़े। अर्धनर, अर्धपशु बनकर खम्भेसे प्रकट होना पड़ा। वटुरूप होकर बलिसे छल करना पड़ा। परशुराम ब्राह्मणरूप हो ब्राह्मण-धर्म-विरोधी कर्म करना पड़ा। प्रत्येक अवतार-कार्यकी पूर्तिपर देवताओंने इसी प्रकार भक्तिकी याचना की है तथापि उनका स्वार्थ सदा जैसा-का-तैसा ही बना रहता है, यह आश्चर्य है। इनके स्वार्थवश हमारे प्रभुको कष्ट उठाने पड़ते हैं यह समझकर कविके हृदयमें विषाद हो रहा है।—यह मात्राकी न्यूनतासे जनाया।

यह खल मलिन सदा सुरद्रोही†। काम लोभ मद रत अति कोही॥ ९॥
अधमसिरोमनि तव पद पावा‡। यह हमरे मन बिसमय आवा॥ १०॥

अर्थ—यह दुष्ट, पापी, सदा देवताओंसे शत्रुता रखनेवाला, काम, लोभ और मदमें तत्पर और अत्यन्त

* पावा, नसावा—(का०, पं०, मा०, म०) † रावन पापमूल सुरद्रोही। ‡ सोउ कृपाल तव धाम सिधावा—(का०)।

क्रोधी था॥ ९॥ ऐसे अधमशिरोमणिको भी आपका परमपद प्राप्त हुआ, यह हमारे मनको आश्चर्य हुआ॥ १०॥

प० प० प्र०—*'यह खल'* इति। अब भी 'यह' कहनेसे पाया गया कि देवता अबतक दुःखोंको नहीं भूले, बार-बार रावण और उसके अत्याचारोंकी स्मृति आती है, अतः वे उसके दोषोंको पुनः-पुनः उच्चारण करते हैं, यद्यपि ये इन्द्रादि सब देवता *'काम लोभ मद रत कोही'* हैं तथापि ये अपने दोषोंको नहीं कहते। प्रत्युत अपनेको आगे 'परम अधिकारी' कहते हैं।

हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ-रत प्रभु-भगति बिसारी॥ ११॥
भव प्रबाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥ १२॥

अर्थ—हम सब देवता (परमपदके) पूर्ण अधिकारी होकर भी स्वार्थपरायण हो आपकी भक्तिको भूलकर सदा संसारके धाराप्रवाहमें पड़े हैं। हे प्रभो! अब हम आपकी शरणमें प्राप्त हुए हैं अतः हमारी रक्षा कीजिये॥ ११-१२॥

मा० म०—इस कथनका भाव यह है कि हमारा एक शत्रु रावण था उसे मारकर आपने हम लोगोंको देवलोक दिया; अब हमारा एक शत्रु और है जिसके प्रभावसे हम सब भवसागरमें पड़े हैं, उसका भी आप नाश कर दीजिये तो हम लोगोंको आपका धाम प्राप्त हो।

टिप्पणी—ऊपर *'हमरे मन बिसमय आवा।'* कहकर अब विस्मयका कारण बताते हैं कि हम देवता हैं अर्थात् सात्त्विकरूप हैं अतएव परम अधिकारी हैं, यथा—'**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥**' (१४। १८) अर्थात् सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणवाले मध्यमें रहते हैं और सबसे छोटे तमोगुणवृत्तिवाले नरकादिमें जाते हैं। [पुनः परम अधिकारी इससे कि आप सदा हमारा पक्ष लेकर हमारी रक्षा किया करते हैं, आपने हमको ज्ञान दिया, अजर-अमर बनाया। (रा० प्र०) लोकपालादि पदोंपर हमारा निवास है। (पं०)] हम आपके कृपापात्र होकर भी भवप्रवाहमें पड़े हैं और यह खल तामसी राक्षस आपका द्रोही था, सो उसने परमपद पाया—यह विस्मयका कारण है।

☞अ० रा० में भी ऐसा ही कहा गया है, यथा—'**वयं तु सात्त्विका देवा विष्णोः कारुण्यभाजनाः। भयदुःखादिभिर्व्याप्ताः संसारे परिवर्तिनः॥ अयं तु राक्षसः क्रूरो ब्रह्महातीव तामसः। परदाररतो विष्णुद्वेषी तापसहिंसकः॥ पश्यत्सु सर्वभूतेषु राममेव प्रविष्टवान्॥**' (अ० रा० ११। ८०—८२) अर्थात् हम सब देवता सत्त्वगुणप्रधान हैं और श्रीविष्णुभगवान्‌की करुणाके पात्र हैं, फिर भी हम भय और दुःख आदिसे युक्त संसारचक्रमें भ्रम रहे हैं। और, यह क्रूर राक्षस तामसवृत्तिवाला, ब्रह्महत्या करनेवाला, परदाररत, विष्णुद्रोही, तपस्वियोंकी हिंसा करनेवाला है। तो भी यह सबके देखते-देखते श्रीरामचन्द्रजीमें प्रविष्ट हो गया।

उपर्युक्त श्लोकोंका सब भाव *'हम देवता परम अधिकारी'* में है।

इस कथनसे श्रीरामचन्द्रजीमें दोषारोपण होता है। उसके निवारणार्थ *'स्वारथरत तव भगति बिसारी'* कहा। भाव कि हम इसी कारण भवप्रवाहमें पड़े हैं और रावण पापिष्ठ होनेपर भी आपकी सदा स्मरणरूपी भक्ति करता रहा इससे उसने परमपद पाया। इसमें हमारा ही दोष है, आपका दोष नहीं। *'तव भगति बिसारी'* से जनाया कि रावणने सदा आपका स्मरण किया, यथा—'**पापिष्ठो वा दुरात्मा परधनपरदारेषु सक्तो यदि स्यान् नित्यं स्नेहाद्भयाद्वा रघुकुलतिलकं भावयन्संपरेतः। भूत्वा शुद्धान्तरङ्गो भवशतजनितानेकदोषैर्विमुक्तः सद्यो रामस्य विष्णोः सुरवरविनुतं याति वैकुण्ठमाद्यम्॥**' (अ० रा० ११। ८७) अर्थात् नारदजी देवताओंको समझाते हैं कि महापापी या दुष्टात्मा परधन एवं परस्त्रीमें रत ऐसा मनुष्य भी यदि नित्य प्रेमसे अथवा भयसे रघुकुलमणि श्रीरामजीके ध्यानमें तत्पर हो तो उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर सैकड़ों जन्मोंके अनेक सञ्चित दोषोंसे छूटकर श्रेष्ठ देवताओंसे वन्दित होकर भगवान्‌के लोकको प्राप्त होता है। श्रीरामजीसे द्वेष होनेके कारण द्वेषभावसे रावण सेवकोंसहित रामचरित्रोंको सुन-सुनकर और अपनी मृत्यु श्रीरामजीसे जानकर भयसे सर्वत्र उन्हींको देखा करता था, यथा—'**भृत्यैः सह सदा रामचरितं द्वेषसंयुतः। श्रुत्वा रामात्स्वनिधनं भयात्सर्वत्र राघवम्॥**' (अ० रा० ११। ८४)

बं० पा०—स्वारथरत अर्थात् व्यवहारमें फँसे, विषय-सुखभोगमें पड़े। *'संतत'* का भाव कि इससे

छूटना सम्भव है, यथा—*'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥'*

प० प० प्र०—१ देवताओंने जान लिया कि इनका देह चिदानन्दमय है इससे ये अधिकारी तो हैं; यथा—*'चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'*; पर ये तो अपनेको *'परम अधिकारी'* ही मानते और कह भी रहे हैं। वे अपने ऐश्वर्य, सत्ता और ऊँच निवास आदिके विचारसे ही ऐसा मान बैठे हैं। यही अहङ्कारका स्वरूप है।

२ *'भव प्रवाह.........'* इति। अन्तमें इस अर्धालीमें भी मात्राकी न्यूनता करके जनाया कि अपनी स्वार्थपरायणता देखकर देव परितप्त हैं, दुःख होता है, पर स्वभावसे बेबस हैं। अतः प्रार्थना करते हैं। रावण दुष्ट होनेपर भी भवपार हो गया और हम इसीमें चक्कर खा रहे हैं, अतः *'धिग् जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥'*

नोट—*'अब प्रभु पाहि.......।'* भाव कि जो हुआ सो हुआ पर अब हम शरणमें प्राप्त हैं, अब भवभयसे हमारी रक्षा कीजिये। क्योंकि आपका विरद है कि आप शरणमें आनेपर अभय देते हैं। यथा—'**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥**' निज प्रतिज्ञा स्मरण करानेके लिये ये वचन कहे।

दो०—करि बिनती सुर सिद्ध सब रहे जहँ तहँ कर जोरि।
अति सप्रेम तन पुलकि बिधि* अस्तुति करत बहोरि॥ १०९॥

अर्थ—विनती करके देवता और सिद्ध सब जहाँ-के-तहाँ (अर्थात् जो जहाँ थे वहीं) हाथ जोड़े खड़े रह गये। तब अत्यन्त प्रेमसहित पुलकित शरीर होकर ब्रह्माजी स्तुति करने लगे॥ १०९॥

नोट—१ *'कर जोरि'* से प्रभुमें स्वामिभाव जनाया। हाथ जोड़कर स्तुति की जाती है। विनतीके अन्तमें *'कर जोरि'* प्रणामभावसे एवं अतिविनीतभाव प्रदर्शित करनेके लिये है—'**कृतमस्तकाञ्जलिम्**'। '**प्रणतो भूत्वा रामं सत्यपथे स्थितम्।**' (अ० रा० १३। ९) पुनः, भीड़ बहुत है, अतः *'कर जोरि'* से ही दण्डवत् प्रणाम जना दिया। '**अब्रुवन् परमात्मानं रामं प्राञ्जलयश्च ते।**' (अ० रा० १३। ३)

नोट—२ *'अति सप्रेम तन पुलकि.......'* इति। (क) तनकी पुलकावली अतिशय प्रेमके कारण है, यथा—*'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा।'* (१। २११; अहल्या), *'तन पुलक निर्भर प्रेमपूरन।'* (३। ६; अत्रिजी)। (ख) *'बहोरि'* अर्थात् उन सबके पीछे, तत्पश्चात्। (प्र० सं०) बालकाण्ड दोहा १८६ में भी ब्रह्मदेवकृत स्तुति है, जिसके उपरान्त भगवान्‌ने आश्वासन दिया था कि *'जनि डरपहु मुनि.......निर्भय होहु देव समुदाई।'* (१। १८७। १—७) यहाँ 'बहोरि' शब्दसे वह संदर्भ सूचित किया और जनाया कि उस ब्रह्मवाणीके अनुसार भू-भार हरण करके देवादिको निर्भय कर देनेके कारण कृतज्ञता-भावसे ब्रह्माजी स्तुति कर रहे हैं। (प० प० प्र०)

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि रावणका विजय करके सीताजीकी शृङ्गारित मूर्तिके साथ रामजी विराजमान हैं, वानरी सेना यह अपार शोभा देखकर जय-जयकार कर रही है। उसी समय देवता लोगोंने स्तुति की और जो जहाँ थे वे वहीं हाथ बाँधे खड़े हैं। रावणकी सभामें भयसे हाथ बाँधे खड़े रहते थे, यहाँ कृतज्ञतासे हाथ बाँधे खड़े हैं। स्तुति करनेके बाद माँगा कि 'हम आपके शरण हैं, आप हमारी रक्षा कीजिये', पर ब्रह्मदेव इतनेसे सन्तुष्ट नहीं हैं, उन्हें चरणोंमें प्रेम चाहिये (यथा—'**नृपनायक दे बरदानमिदं चरनांबुज प्रेम सदा शुभदम्।**' अतः फिरसे स्तुति करने लगे। (ग) देवताओं तथा इन्द्रकृत स्तुतियोंमें *'सप्रेम' 'तन पुलकि'* आदिका उल्लेख न करके जनाया कि उनमें भक्तिभाव किंचित् नहीं है। ब्रह्मदेवकी स्तुतिमें उपसंहारमें भी

* १—अतिसय प्रेम सरोजभव—(का०, मा० म०)। २—(क) मयूख (मा० म०)—'मूलमें सरोजभव इससे कहा कि श्रीरामचन्द्रजीके अंश श्रीमन्नारायणके नाभिसरोजसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं। अतएव सरोजभव कहकर माधुर्य सूचित किया। यदि ब्रह्मा कहते तो ऐश्वर्य सूचित होता, माधुर्य फीका पड़ जाता।' ३—पं०—आदित्य ब्रह्माके उत्पन्न किये हुए हैं, अतः सूर्यके वंशकी प्रशंसा करनी योग्य न थी। ब्रह्माने जो स्तुति की वह इनको विष्णुरूप समझकर की। भगवान्‌के नाभिकमलसे इनकी उत्पत्ति है अतएव अपने पिता भगवान्‌की स्तुति योग्य है। अतः 'सरोजभव' पद दिया।

'प्रेम पुलकि' शब्द है, जिससे सूचित करते हैं कि ब्रह्माजी अथसे इतितक प्रेमविभोर रहे। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—*'अस्तुति करत बहोरि'* इति। श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसीताजीके प्रति जो अति नरनाट्यके वचन कहे, उन्हें सुनकर देवताओंको भ्रम हो गया। वे समझे कि श्रीरघुनाथजीको अपने स्वरूपका स्मरण नहीं है। अतएव उसकी स्मृति करानेके लिये उन्होंने स्तुति की, यथा—'**अब्रुवंस्त्रिदशश्रेष्ठा राघवं प्राञ्जलिं स्थितम्॥ कर्त्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः। उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने॥ कथं देवगणश्रेष्ठमात्मानं नावबुध्यसे॥' '.........उपेक्षसे च वैदेहीं मानुषः प्राकृतो यथा॥'** (वाल्मी० ११७। ५-६, ९), अर्थात् देवश्रेष्ठ खड़े होकर हाथ जोड़कर श्रीरघुनाथजीसे बोले कि आप समस्त लोकोंके कर्ता और ज्ञानविदोंमें श्रेष्ठ होकर अग्निमें प्रवेश करती हुई सीताकी उपेक्षा कैसे करते हैं? देवताओंसे भी श्रेष्ठ अपने स्वरूपको आप क्यों नहीं समझते? प्राकृत मनुष्यके समान आप सीताकी उपेक्षा करते हैं।—यह बात गोस्वामीजीने यहाँ देवस्तुतिमें *'देव', 'तुम्ह सम रूप ब्रह्म अविनाशी'* आदि स्वरूपस्मारक पद देकर अपने शब्दोंसे सूचित कर दी है। देवताओंके वचन सुनकर रघुनाथजीने उन्हें उत्तर दिया कि हम तो अपनेको महाराज दशरथका पुत्र राम मानते हैं; परंतु जो हम हैं और जहाँसे हम आये, वह सब आप कहें। यथा—'**आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्। सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे॥**'

यह सुनकर देवता मौन हो गये। अतएव ग्रन्थकार कहते हैं कि *'करि बिनती सुर सिद्ध सब जहँ तहँ रहे कर जोरि'* अर्थात् चुप होकर खड़े रहे। इसीलिये *'बिधि बहोरि स्तुति करत।'* यथा—'**इति ब्रुवाणं काकुत्स्थं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः। अब्रवीच्छृणु मे वाक्यं सत्यं सत्यपराक्रम॥**'

प० प० प्र०—१ इस स्तुतिकी एक विशेषता पूर्व बतायी गयी कि इसमें रावणका नाम कहीं नहीं आया, 'यह' 'दुष्ट', 'अधमसिरोमणि' आदि शब्दोंसे ही उसका निर्देश किया गया है और नाम न लेनेपर भी उसके दोषोंकी चर्चा बारंबार की गयी है। इन्द्रकृत स्तुतिमें भी दुष्ट, परद्रोहरत आदि शब्दोंसे रावणके दोष वर्णन किये गये हैं। ब्रह्मदेवकृत तथा त्रिपुरारिकी स्तुतियोंमें रावणके दोषोंका वर्णन नहीं है। त्रिपुरारिकृत स्तुतिमें रावणका नाम भी नहीं है। इन्द्र तथा ब्रह्माकृत स्तुतियोंमें रावण, रावणारि और लंकेश पद हैं—इन दोनोंने यहाँ भक्तिकी याचना की है, पर कृष्णावतारमें भगवान्‌से छल भी किया है।

२—सर्वदेवकृत स्तुति विशाखा नक्षत्र है। अबतक पन्द्रह स्तुति-नक्षत्रोंका वर्णन हुआ—अश्विनी आदि छः बालकाण्डमें; पुनर्वसु और पुष्य दो अयोध्यामें; आश्लेषासे हस्ततक पाँच अरण्यमें; चित्रा किष्किन्धामें और स्वाती सुन्दरमें। अब यह सोलहवीं स्तुति है और सोलहवाँ नक्षत्र विशाखा है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—

(क) नाम-साम्य इति। देवताओंमें भी वसु, रुद्र, अग्नि, आदित्य, मरुद्गण, लोकपाल और दिक्पाल आदि विविध शाखाएँ हैं और नक्षत्रका नाम 'वि-शाखा' है ही। (ख) तारा-साम्य इति। विशाखामें चार तारे हैं, वैसे ही स्तुतिमें रघुराया, देव, नाथ और प्रभु ये चार तारे हैं। (ग) रूप-आकार-साम्य इति। नक्षत्रका आकार तोरण-सा है। जैसे तोरण दूरसे देखनेसे सुन्दर लगता है वैसे ही देवताओंके वचन देखनेमें सुन्दर हैं—*'बचन कहहिं जनु परमारथी।'* तोरण विषम, ऊँचा-नीचा रहता है; वैसे ही इनके वचन सुसम्बद्ध नहीं हैं। (घ) विशाखाके देवता इन्द्र और अग्नि। स्तुतिमें भी दोनों देवता हैं। (ङ) फलश्रुति साम्य इति। *'मंत्र महामणि बिषय ब्याल के'* यह फलश्रुति है। देवता भी *'स्वारथरत, 'प्रभु भगति बिसारी'* और *'भव प्रबाह संतत परे'* हैं ही, यही 'बिषय-ब्याल'-ग्रस्त होना है। इसीसे वे भक्तिरूपी महामणि (चिन्तामणि) की और 'रामनाम'-रूपी मन्त्रकी याचना करते हैं।

३—विशाखा और अनुराधा नक्षत्र आकाशमें ऐसे देख पड़ते हैं मानो एकसे दूसरा सटा हुआ है। वैसे ही यहाँ दोहेके पूर्वार्धमें देवस्तुति समाप्त की और उत्तरार्धमें ब्रह्मदेवकी स्तुतिका उपक्रम किया है। यह जानबूझकर (हेतुपूर्वक) नहीं किया गया, ऐसा अब कौन कहेगा!!

छं०—जय राम सदा सुखधाम हरे। रघुनायक सायक चाप धरे।
भव-बारन-दारन सिंह प्रभो। गुनसागर नागर नाथ बिभो॥ १॥

अर्थ—सदा सुखके निवासस्थान और (रावणकृत) दुःखोंके हरनेवाले भगवान्, धनुष-बाण-धारी,

रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी! आपकी जय! हे प्रभो! आप भवरूपी हाथीको विदीर्ण करनेके लिये सिंहरूप हैं। हे नाथ! हे विभो! आप गुणोंके समुद्र, परमचतुर और व्यापक एवं समर्थ हैं॥ १॥

नोट—यह तोटक छंद है। इसके चारों चरण १२-१२ अक्षरके होते हैं। प्रत्येक चरणमें चार सगण अर्थात् तीसरा, छठा, नवाँ और बारहवाँ अक्षर गुरु होता है।

टिप्पणी—१ *'जय राम'* इति। (क) **'हे राम सदा सर्वस्मिन् काले त्वं जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्वेत्यर्थः'।** (ख) **'हे हरे'—रावणकृतकष्टहरणात् हरे इत्युक्तं तथा च स्मृतिः।'** यथा—**'हराम्यघं हि स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतौ यथा। वर्णश्च मे हरिद्यस्मात्तस्माद्धरिरहं स्मृतः॥'** इति (स्मृतिवचन) अर्थात् स्मरण करनेवालोंके पापोंको मैं हर लेता हूँ, जैसे यज्ञहविके भागको लेता हूँ। मेरा वर्ण हरितश्याम है, इसीलिये मैं हरि कहलाता हूँ। (ग) *'सुखधाम'* का भाव कि जो आपकी शरण जाता है, वह भी सुखभोग करता है। *'रघुनायक'* का भाव यह भी है कि आप रघु (अर्थात् जीव) मात्रके स्वामी हैं। (रा० प्र०)

टिप्पणी—२ (क) **'वारणं प्रतिषेधे स्याद्वारणस्तु मतंगजे।'** इति (विश्वप्रकाश) यहाँ वारणका अर्थ 'मत्तगज' है। *'भव-बारन-दारन'* के 'भववारण-दारण' और 'वारय, तारय' दोनों अर्थ हैं। (ख) *'गुनसागर'* यथा—**'स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्द्धनः'** (मूलरामायण), *'बिनय सील करुना गुनसागर।'* (१। २८५), *'राम अमित गुनसागर थाह कि पावै कोइ।'* (७। ९२) भाव कि आपके दिव्य गुणोंका कोई पार नहीं पा सकता, कितने हैं कोई कह नहीं सकता। *'नागर'* अर्थात् परमचतुर हैं, कब कहाँ कैसा करना चाहिये, यह सब आप जानते हैं। यथा—*'जयति बचन रचना अति नागर।'* (१। २८५। ३), *'गुन सागर नागर बर बीरा।'* (१। २४१। २)

प० प० प्र०—*'राम'* शब्दसे निर्गुण ब्रह्मका और 'हरि' से सगुण अवतारीका बोध कराया और चारों कल्पोंकी कथाका समन्वय किया। उत्तरार्धका भाव यह है कि सर्वव्यापक होनेपर भी आप मेरी विनय तथा अपने अभिवचनके अनुसार चापबाणधर रघुनायक बन गये। *'भव-बारन………'* में भाव यह है कि सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ होनेपर भी आपने भवरूपी मत्तगजके विदारणार्थ ही मुख्यतः यह रूप धारण किया है, जिसमें आपके गुणसागरमय सुन्दर चरित्र *'गाइ गाइ भव निधि नर तरहीं।'*

छं०—तन काम अनेक अनूप छबी। गुन गावत सिद्ध मुनींद्र कबी॥
जसु पावन रावन-नाग-महा। खगनाथ जथा करि कोप गहा॥ २॥

अर्थ—आपके शरीरमें अनेक कामदेवोंके समान, किन्तु अनुपम शोभा है। सिद्ध, मुनीश्वर और कवि आपके गुण गाते हैं*। आपका यश पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाला है। रावणरूपी महासर्पको आपने गरुड़की तरह क्रोध करके पकड़ लिया॥ २॥

रा० प्र०—*'तन काम अनेक अनूप छबी'* इति। अनेक कामदेवोंके समान छबि कहनेमें बड़ी न्यूनता आती है, इनके तो *'अंग अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम।'* (१। २२०) अतः *'तन काम अनेक छबी'* ऐसा कहना मानो बिन्दुसे सागरका बोध कराना है, यथा—*'राम काम सत कोटि सुभग तन।'* (७। ९१। ७) *'………निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै। जिमि कोटिसत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥'* (९२) अतः यह कहकर फिर *'अनूप'* कहा।

नोट—१ *'जसु पावन'*। यथा—*'पावन गंग तरंगमाल से।'* (१। ३२। १४), *'रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥'* (उ० १३०) इत्यादि। पुनः *'जसु पावन'*, से यहाँ युद्धचरित्र अभिप्रेत है। यह भी पावन है, यथा *'यह रावनारि चरित्र पावन रामपद रतिप्रद सदा।………समर बिजय रघुबीरके चरित जे सुनहिं सुजान॥'* (१२०) ऐसा पावन है कि एक-एक अक्षर इसका पठन करनेसे सर्वपापनाशक है। नोट—२ *'खगनाथ जथा'* कहकर जनाया कि दुष्टदलन आपका स्वाभाविक धर्म है। (पु० रा० कु०)

छं०—जनरंजन भंजन-सोक-भयं। गत क्रोध सदा प्रभु बोधमयं॥
अवतार उदार अपार गुनं। महिभार बिभंजन ज्ञानघनं॥ ३॥

अर्थ—आप भक्तोंको आनन्द देनेवाले, शोक और भयके नाशक हैं। हे प्रभो! आप सदा क्रोधरहित और ज्ञान-स्वरूप हैं। आपका अवतार उदार (श्रेष्ठ एवं दानिशिरोमणि) है, अपार-गुणोंवाला है। आप भूभारके

उतारनेवाले और ज्ञानके समूह हैं॥ ३॥

पं०—'*जनरंजन*' कहकर '*भंजन-सोक-भयं*' इत्यादि कथनका भाव कि भक्तोंको प्रसन्न करके आप उनके शोक और भयको दूर करते हैं और दासोंसे अवज्ञा (अपराध) होनेपर भी आप क्षमा ही करते हैं; क्योंकि आप 'क्रोधरहित' हैं। [स्तुतिमें '*भंजन-सोक-भयं*' कहकर '*गत क्रोध*' कहनेका भाव यह है कि आपने अपने जनों देव-मुनि आदिका शोक और भय दूर करनेमें क्रोधका नाट्य किया है। [यथा—'*राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप महाबलसाली॥*' (६९। ६), '*तब प्रभु कोपि तीब्र सर लीन्हा।*' (७०। ४), '*तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा॥*' (९०। ८), '*रघुबीर एकहि तीर कोपि निमेष महुँ माया हरी।*' (१००), '*कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम॥*' (३। २०) इत्यादि। पर वास्तवमें आप क्रोधरहित हैं, क्योंकि आप बोधमय अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं तथा '*प्रभु*' हैं अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ हैं] महिभार-विभञ्जनसे विषमता एवं पापका बोध होता है अतः 'ज्ञानघन' कहा। अर्थात् किसीको मारने या किसीको तारनेमें आप पाप-पुण्य कुछ ग्रहण नहीं करते।

रा० प्र०—शोकभय जन्ममरणादिका एवं गत पदार्थका। '*गत क्रोध*' का भाव कि शरणागत होनेवालेके पास भी क्रोधादि नहीं जाने पाते। ज्ञानघन=ज्ञानसमूह एवं ज्ञानरूपी जलकी वर्षा करनेके लिये मेघरूप। —[बं० पा०—शोक पदार्थका]

टिप्पणी—१ '*अवतार उदार अपार गुनं*' इति। (क)—भाव कि सब अवतारोंसे यह अवतार अधिक उदार अर्थात् श्रेष्ठ है। यथा—'**अवतारा: सुबहवो विष्णोर्लीलानुकारिण:। तेषां सहस्रसदृशो रामो ज्ञानमय: शिव:॥**' (अध्यात्म० ६८* रावणप्रति कुम्भकर्णवचन) अर्थात् मच्छ-कच्छपादि-लीला करनेवाले विष्णुके बहुत अवतार हैं। उन सहस्रों अवतारोंके समान अकल ज्ञानमय कल्याणरूप यह राम-अवतार है।† श्रीरामजीका नाम, रूप, लीला और धाम सभी उदार हैं, यह बालकाण्डमें दिखाया गया है। यथा—'*एहि महँ रघुपति नाम उदारा।*' (१। १०), '*आयसु दीन्ह न राम उदारा।*' (३३। ४), '*कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार।*' (११४) यही दिखाते हैं कि अवतार भी उदार (श्रेष्ठ) है। यथा—'*हरिहु और अवतार आपने राखी बेद बड़ाई। लै चिउरा निधि दई सुदामहि जद्यपि बालमिताई। कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन को नहिं कियो अजाची॥*' (वि० १६३) यही अवतार है जिसमें एक अवतारकी सब शक्ति छीन ली गयी और उसने आपकी स्तुति की है।

छं०—अज ब्यापकमेकमनादि सदा। करुनाकर राम नमामि मुदा॥
रघुबंसबिभूषन दूषन-हा। कृत भूप बिभीषन दीन रहा॥ ४॥

अर्थ—हे श्रीराम! हे अज (अजन्मा)! व्यापक, एक, अनादि, नित्य और करुणाकर हैं। (एवं सबमें रमण करनेवाले और जिनमें सब योगी आदि रमण करते हैं) राम! मैं आपको प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार करता हूँ। आप रघुवंशके विशेष आभूषण हैं अर्थात् रघुवंशशिरोमणि हैं और दूषण राक्षसके मारनेवाले एवं दूषणोंके दूर करनेवाले हैं। विभीषण दीन (गरीब) था, उसको आपने राजा बना दिया॥ ४॥

नोट—'*रघुबंसबिभूषन दूषन-हा*' इति। पं०—रघुके वंशको एवं रघुवंशियोंको विशेष शोभित करनेवाले और दोषोंके दूर करनेवाले हो।—[प्रभुने वंशमें जो अनुचित बातें थीं उनको दूर कर दिया। सब एकपत्नीव्रत हो गये। दूसरा दोष कि एक ही पुत्र राज्य पाता था और भाइयोंको कुछ न मिलता था—'*बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥*' इस दोषको भी आपने हटाया। पुनः, रघुवंशके राजा अनरण्यको रावणने मारा था तब उन्होंने शाप दिया था कि हमारे वंशकी अमुक पीढ़ीमें तेरा वध करनेवाला उत्पन्न होगा, उस शापको सत्य करके आपने कुलकी प्रतिष्ठाकी रक्षा की, उसे विभूषित किया।]

पु० रा० कु०—१ 'हे राम! हे करुणाकर!' इसी प्रकार आदिसे यहाँतक चार तुकोंमें जितने सम्बोधन

---

* एक महानुभाव यों अर्थ करते हैं कि 'आपकी अनूप छबिमें पगकर मस्त होकर सिद्ध मुनीश्वर कवि आपका यश गाते हैं'।

† वै०—यथा श्रुतिः—'सः श्रीरामः सवितारो सर्वेषामीश्वरः। यमेवेशः वृणुते सः पुमानस्तु यगवदैस्माद्भूर्भुवः स्वः त्रिगुणमयो बभूव॥'

हैं, उनका अन्वय इसी प्रकार है। २—*अनादि*=अनादिम्। यहाँ लघु-उच्चारणार्थ दिकारमें अनुस्वार नहीं कहा, यथा—'**क्वचित्सविन्दुः क्वचिदर्द्धविन्दुरोकारयुक्तोऽपि क्वचिल्लघु स्यात्**' इति। (वृत्तरत्नावली) ३—'*रघुबंसबिभूषन*.........' का भाव कि रघुवंशियोंकी यह रीति है कि दीनोंपर करुणा—अनुग्रह करके दुष्टोंका दलन करते हैं और आप तो रघुवंशभूषण हैं तब आप ऐसा क्यों न करते।

छं०—गुन-ग्यान-निधान अमान अजं। नित राम नमामि बिभुं बिरजं॥
भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं। खलबृंद निकंद महाकुसलं॥ ५॥

अर्थ—गुण और ज्ञानके निधान (खजाना), *अमान* (मानरहित एवं परिमाणरहित), अज (जिनका कभी जन्म नहीं हुआ) स्वयं ही प्रकट होनेवाले, विभु और माया एवं विकारोंसे रहित, श्रीराम! मैं आपको नित्य नमस्कार करता हूँ। आपके भुजदण्डोंका बल और प्रताप प्रचण्ड (तीक्ष्ण, तेज, भयंकर) है। दुष्टसमूहके नाश करनेमें आप परम प्रवीण हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ (कृपा, अनुकम्पा, शील, सत्य आदि दिव्य गुणोंके सागर ऊपरके '*गुनसागर*' शब्दसे कह आये। ज्ञानघन एवं बोधमय भी कह आये। अब यहाँ) 'गुणज्ञाननिधान' से शास्त्रोंमें अव्याहत बुद्धिता दिखायी। पंजाबीजी लिखते हैं कि गुणनिधान कहा, क्योंकि त्रिगुणात्मक अनन्त सृष्टि उत्पन्न की है, यथा—'*जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा*'—(ब्रह्माकृतस्तुति बा०)। 'ज्ञाननिधान' से जनाया कि इसी सागरसे औरोंको ज्ञान मिला, अनेक तत्त्ववेत्ताओंकी उत्पत्ति हुई तथा आपके ज्ञानकी थाह किसीको नहीं मिली। '*अमान*' अर्थात् सृष्टिके कर्ता और गुणज्ञाननिधान होनेपर भी निरभिमान हो (प०)। पुनः, *अमान*=जिसकी तौल कोई नहीं कर सकता कि कितना है। वेदशारदाशेषादिसे वक्ता भी थक जाते हैं, पार नहीं पाते। अ० रा० के '**मानातीतः**' '**लौकिकमानैरधिगम्यम्**', '**अति मानं गतमनः**' के भाव 'मानरहित' शब्दसे जना दिये। अर्थात् आप देशकालादि परिमाणसे रहित, लौकिक प्रमाणसे जानने योग्य नहीं। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे रहित तथा सर्वथा निर्मान हैं। विरज=रजोगुणरहित एवं विकाररहित। '*भुजदंड प्रचंड*' से दिखाया कि आप सदा धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाये रहते हैं। तात्पर्य कि (दोनों राजाओंके मुख्य प्रयोजनके) साधन हैं। यथा—'**सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम्। शास्त्रेष्वव्याहता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता॥**'—(रघुवंश)। अर्थात् सेना और छत्रचामरादि ये दोनों उनके अर्थके साधन हैं। शास्त्रोंकी अभ्यासयुक्त बुद्धि और धनुषके बीचमें प्रत्यञ्चा यही है।

टिप्पणी—२ '*भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं'।* बल शरीरका और प्रताप वह कहा जाता है कि जिससे शत्रुका हृदय सुनकर ही काँप जाय, यथा—'*कंपहिं लोकप जाकी त्रासा*' (पं०)। (वाल्मीकिकी ब्रह्मस्तुतिके '**अमोघं बलवीर्यं ते अमोघस्ते पराक्रमः॥**' (३०) इन शब्दोंका भाव इस चरणमें है। अर्थात् आपका बल-वीर्य और पराक्रम निष्फल जानेवाले नहीं हैं, इसीसे आप '*खलबृन्द निकंद महाकुसलं*' हैं) 'महाकुशल'=बड़े निपुण। भाव कि जिस भाँति खल मरें उसी भाँति मारते हो। यथा—'*खरदूषन बिराध बध पंडित।*' किसी अस्त्र-शस्त्रसे इनकी मृत्यु न थी, उनको बिना अस्त्र-शस्त्रके ही मारा।

छं०—बिनु कारन दीनदयाल हितं। छबिधाम नमामि रमा सहितं॥
भवतारन कारन काज परं। मन संभव दारुन दोष हरं॥ ६॥

अर्थ—बिना कारण ही दीनोंपर दया करनेवाले और हितकारी, शोभाधाम, श्रीजानकीसहित आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप भवपार करनेवाले, कारण-कार्य दोनोंसे परे और मनसे उत्पन्न होनेवाले कठिन दोषोंके हरनेवाले हैं॥ ६॥

नोट—१ '*बिनु कारन दीनदयाल हितं।*' भाव कि सुर, नर, मुनि सभी '*स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।*' और आप अकारण ही कृपा करते हैं। '*बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥*' (४४। ४-५) यह अकारण कृपा है। अहल्याको जाकर पूछकर तारा' यह कारणरहित कृपा है, यथा—'*अस प्रभु दीनबन्धु हरि कारनरहित दयाल।*' (१। २११)

नोट—२ '*भवतारन*', यथा—'**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥**' (गीता १२। ७) अर्थात् जो मुझमें चित्तको लगाये रखते हैं, उनको मैं मृत्युरूप संसारसागरसे

शीघ्र ही भलीभाँति उद्धार करनेवाला होता हूँ।

पु० रा० कु०—'कारण (=माया) और कार्य (जगत्) इन दोनोंसे परे। *'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥'* इससे कारणपरे निश्चित हुए। और, *'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥'* इससे कार्यसे परे ठहरे। प्रमाण, यथा—'**कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।**' इति· (स्मृतिवचन)

करु०—'कारन काज परं' यथा—'**यस्यांशेनैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा अपि जाता महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणाश्च स एव कार्यकारणयोः परः परमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव।**' इति (श्रुतिवाक्य)

बै०—*'कारन काज'* इति। कारणकार्य दोनों माया हैं, जिसने आत्मदृष्टि खींचकर ईश्वरांशको त्रिगुणके बन्धनमें डालकर जीवत्व किया सो कारणमाया है और जिसने इन्द्रियविषयोंके वशमें करके जीवको कामादिके वश कर रखा है, वह कार्यमाया है।

छं०—सर चाप मनोहर त्रोन धरं। जलजारुन लोचन भूप बरं॥
सुखमंदिर सुंदर श्रीरमनं। मद मार मुधा* ममता समनं॥ ७॥

अर्थ—आप सुन्दर धनुष, बाण और तरकश धारण करनेवाले हैं, लाल कमलके समान नेत्रवाले हैं, राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, सुखके मन्दिर और सुन्दर श्रीजीके पति, मद, काम और झूठे ममत्वके नाश करनेवाले हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'भूप बरं'*—राजराज कहकर स्तुति की है अतएव *'श्री'* का अर्थ ऐश्वर्य अर्थात् त्रिपादविभूति लिया गया। *श्रीरमणं,* यथा—'**श्रियः कमलवासिन्या रमणो यं यतो हरिः। तस्माच्छ्रीराम इत्यस्य नाम सिद्धं पुरातनम्॥**' इति (पद्मपु०) अर्थात् ये कमलवासिनी श्रीके रमानेवाले हैं; इससे इनका रामनाम पुरातन सिद्ध है। [*'श्री'*—'श्रीजानकीजीका' एक नाम है, यह पूर्व बताया जा चुका है। यथा—*'उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥'* (३। ७। ३), *'श्री सहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई।'* (७। १२), *'बसहु हृदय श्री अनुज समेता।'* (३। १३। १०) अतः *'श्रीरमनं'* का अर्थ श्रीजानकीजीमें रमण करनेवाले श्रीजानकीपति भी ठीक है।]

छं०—अनवद्य अखंड न गोचर† गो। सब रूप सदा सब होइ न सो॥
इति बेद बदंति न दंत कथा। रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा॥ ८॥

शब्दार्थ—**गो**=इन्द्रिय। **गोचर**=इन्द्रियका विषय।

अर्थ—आप अनिन्द्य (निन्दा या दोषोंसे रहित) हैं, परिपूर्ण (जिसके टुकड़े या विभाग न हो सके) हैं, इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। सदा सर्वरूप (यह सारा जगत् आपका ही रूप है, सब आप ही) हैं, पर सब होते हुए भी आप वह सब नहीं हैं—ऐसा वेद कहते हैं, यह दन्तकथा (अर्थात् कपोलकल्पित झूठी गढ़ी हुई बात) नहीं है। जैसे सूर्य और सूर्यका प्रकाश (घाम) अलग-अलग हैं और अलग नहीं भी हैं।‡

नोट—*अनवद्य*=अनिंद्य। अर्थात् आपके रूप, गुण, क्रिया, स्वभाव इत्यादिमें किसी प्रकारका दोषदूषण नहीं है। और निर्दोष, शुद्ध हैं। (करु०, बै०) अखण्ड अर्थात् आकाशवत्। नोट—२ *'सब रूप सदा……।'* अर्थात् आप सदा सर्वरूप हैं, आप सब हैं और जो सब है, वह आप नहीं हैं।

'सब रूप' इति। वाल्मी० रा० में ब्रह्माजीने जो श्लोक १३ से २५ तक कहा है कि 'तुम्हीं श्रीमन्नारायण हो, तुम्हीं एक शृङ्गधारी वराह हो। सिद्धरूप धर्म, विष्वक्सेन, चतुर्भुज, शार्ङ्गधन्वा, हृषीकेश, पुरुष, पुरुषोत्तम, अजित, विष्णु, कृष्ण, बृहद्बल, सेनानी, बुद्धि, सत्त्व, क्षमा, दम, उपेन्द्र, मधुसूदन, इन्द्रकर्मा, महेन्द्र, पद्मनाभ, रणान्तक, सहस्र-शृङ्गधारी, वेदोंके आत्मा, शतजिह्वा, त्रिलोकीके आदिकर्ता, स्वयंप्रभु, यज्ञ, वषट्कार, ओङ्कार, उत्कृष्ट तप आदि सब तुम्हीं हो। समस्त प्राणियोंमें, ब्राह्मणों, गौओं, दिशाओं, आकाश, पर्वतों, वनोंमें तुम्हीं

---

* महा—(का०)। महाममता=स्त्री-पुत्रादिमें अत्यन्तासक्ति।

†अगोचर—(भा० दा०)। 'न गोचर गो'—(का०, रा० गु० द्वि०)

‡'यथानेकेषु कुम्भेषु रविरेकोऽपि दृश्यते। तथा सर्वेषु भूतेषु चिन्तनीयोऽस्म्यहं सदा॥' इति (ब्रह्माण्डपुराण, श्रीरामगीता)

हो। सहस्रचरण, शतशीर्ष, सहस्रदृक् भी तुम्हीं हो। पृथ्वीके विनाशकालमें तुम्हीं जलमें शेषशायीरूप धारण करते हो। मैं तुम्हारा हृदय और सरस्वती जिह्वा है। देवता शरीरके रोम हैं। निमेषोंका खुलना और झपकना दिन और रात हैं। संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें आप न हों।' यह कहकर फिर उन्होंने कहा है कि *'जगत्सर्वं शरीरं ते'* यह सारा जगत् आपका शरीर है। यह सब *'सब रूप सदा'* से यहाँ जना दिया गया है। गोस्वामीजीने मन्दोदरीसे भी कहलाया है—*'बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वासु। लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥'* (६। १४) श्रुतियाँ भी कहती हैं **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'** (छां० ३। १४। १) यह सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। इसपर यह शङ्का होती है कि जगत् तो नश्वर है तब आप भी नाशवान् होंगे, इसपर कहते हैं कि *'सब होइ न सो।'*

'सब होइ न सो' इति। भाव कि यह सब आपका रूप होते हुए भी यह सब आप नहीं हैं। यह सब ब्रह्म नहीं है। जगत् जड़ है, मायाका कार्य है, आप इसको धारण करनेवाले हैं। यथा—**'त्वं धारयसि भूतानि वसुधां च सपर्वताम्।'** (वाल्मी० २१; ब्रह्मस्तुति) इसीसे आपका 'सर्वरूप' कहा। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशाएँ, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारागण, आकाश, तम, तेज, समस्त भूत, प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान तथा वीर्य आदि सब आपके शरीर हैं। आप सबके भीतर रहकर सबका नियमन अन्तर्यामीरूपसे करते हैं, पर ये कोई आपको जानते नहीं हैं, इससे सिद्ध हुआ कि आप ये सब नहीं हैं पर हैं आप इन सबोंमें। ये सब दिखायी, सुनायी देने और ज्ञात होनेवाले तथा मननके विषय हैं पर आप केवल द्रष्टा, श्रोता इत्यादि हैं। यह जो याज्ञवल्क्यजीने आरुणिके प्रश्नके उत्तरमें बृहदारण्यक, अ० ३ ब्राह्मण ७ में कहा है, यह सब यहाँ *'सब होइ न सो'* से जना दिया है। इसीसे आगे कहते हैं कि *'इति बेद बदंति न दंत कथा।'* आपके निःश्वास तथा वाणी जो वेद हैं, वही ऐसा कहते हैं।

इसी प्रकार श० प० ब्रा० १४। ६। ६। ५। ३० में कहा है—**'यस्यात्मा शरीरं यं आत्मानमन्तरः'** अर्थात् आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माका उसमें रहकर नियमन करता है। इस प्रकार समस्त जड़, चेतन परमपुरुष श्रीरामजीके शरीररूपसे नियाम्य बतलाये गये हैं। और उन सबोंकी स्थिति तथा नियमन परम पुरुष प्रभुके अधीन सिद्ध हो जानेसे आप ही सबके शेषी (स्वामी) सिद्ध होते हैं। यह भाव *'सब होइ न सो'* से जनाया। उपनिषदोंका यह सार लेकर ही गीतामें भगवान्ने कहा है—**'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥'** (९। ४-५) अर्थात् अव्यक्तमूर्तिसे यह समूचा जगत् व्याप्त है। सारे भूत मुझमें स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। (अभिप्राय यह कि मैं इस जगत्को धारण करने और नियममें रखनेके लिये इसका स्वामी हूँ। इसलिये यह मुझसे व्याप्त है।) तथा वे भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं। मेरे ऐश्वर योगको तू देख। मैं भूतोंका धारण करनेवाला हूँ, पर भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। मेरा मन भूतभावन है।'—इससे जनाया कि प्रभुका सबको धारण करना घटादि पात्रोंके जल आदि पदार्थोंको धारण करनेके समान है। तब कैसे है? उत्तर देते हैं कि केवल मेरे संकल्पसे ही उनका धारण हो रहा है। यह भगवान्का ऐश्वर योग है कि वे भूतोंको धारण करनेवाले हैं पर उनमें स्थित नहीं। उनका मन भूतभावन नहीं है अर्थात् उनसे प्रभुका कुछ भी उपकार नहीं है।

☞ इस तरह *'सब रूप सदा सब होइ न सो'* से प्रभुका यह अद्भुत ऐश्वर योग जनाया।

पं० पा० जी कहते हैं कि स्थूल और सूक्ष्मके विचारसे ये दोनों बातें सत्य हैं। और रा० प्र० कारका मत है कि *'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव दिखावइ आपुन होइ न सोइ॥'* इसी तरह आप सदा सर्वरूप हैं पर आप वह हो नहीं जाते।

'रबि आतप भिन्न.........' के भाव लोगोंने ये लिखे हैं—(क) सूर्यसे घाम है, घामसे सूर्य नहीं, वैसे ही यह जगत् आपसे है, जगत्से आप नहीं हैं। (पु० रा० कु०) सूर्यका प्रकाश सूर्य नहीं है पर साथ ही वह सूर्यसे पृथक् भी नहीं है, वैसे ही आप जगत् हैं नहीं, पर यह आपसे पृथक् भी नहीं है। (ख) सूर्यसे धूप भिन्न भाषित होती है, पर सूर्यसे भिन्न उसकी सत्ता है भी नहीं, वैसे ही जगत् भिन्न देख पड़ता है, पर भिन्न है नहीं। (पं०)

छं०—कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए*॥
धिग जीवन देवसरीर हरे। तव-भक्ति-बिना भव भूलि परे॥ ९॥

अर्थ—हे स्वामिन्! ये सब वानर कृत्यकृत्य (कृतार्थ, धन्य) हैं, जो आदरपूर्वक ये आपका मुख देख रहे हैं (दर्शन कर रहे हैं)। हे हरे (भगवन्)! हमारे जीवन (अमरत्व) और देव (दिव्य) शरीरको धिक्कार है, क्योंकि हम आपकी भक्तिके बिना संसारमें भूले पड़े हैं॥ ९॥

टिप्पणी—'*कृतकृत्य*·······' इति। भाव कि इन्होंने वानर-तन पाकर भी समस्त करने योग्य कर्म किये हैं, तभी तो समस्त साधनोंका फल आपका दर्शन करके कृतार्थ हो रहे हैं। यथा—'**यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति। निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते॥**'—अर्थात् जो रामजीको नहीं देखता और जिसको रामने नहीं देखा, वह सब लोकोंमें निन्दित है, उसकी आत्मा भी उसकी निन्दा करती है। पुनः, यथा—'*जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परमपद जोगू॥*' (अ० २१७), '*सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥*' (२। २१०। ४) भाव कि अब इन्हें कोई सुकर्म करना बाकी नहीं रह गया। यह कृतकृत्यता आगे कहते हैं।

छं०—अब दीनदयाल दया करिये। मति मोरि बिभेद करी हरिये॥
जेहि ते बिपरीत क्रिया करिए। दुख सो सुख मानि सुखी चरिए॥ १०॥

अर्थ—हे दीनदयाल! अब दया कीजिये, और मेरी विभेद करनेवाली बुद्धिको हर लीजिये, जिससे मैं उलटे कर्म करता हूँ और दुःखको सुख मानकर आनन्दसे विचरता हूँ॥ १०॥

नोट—१ '*मति मोरि बिभेद करी*' इति। (क) यहाँ '*मोरि*' पद सब देवताओंका उपलक्षक है (पं०)। (ख) '*बिभेद करी*' अर्थात् नानात्व देखनेवाली, भेदबुद्धि, जगत्‌को आपसे पृथक् देखनेवाली—(बं० पा०)। '*बिभेद करी मति*' इति। तुलसीरचनावली और विशेषतः मानस और विनयके अनेकानेक स्थलोंसे स्पष्टरूपसे सिद्ध है कि 'जीव और ब्रह्मका ऐक्य' यह सिद्धान्त गोस्वामीजीका नहीं है। वे जीवको अनेक, नित्य, ब्रह्मसे भिन्न और मायाके वशमें हो जानेवाला इत्यादि मानते हैं। अतः यहाँ भेद-बुद्धिसे ब्रह्म-जीवका ऐक्य न मानना अभिप्रेत नहीं। प्रत्युत यह अपना है, यह पराया, यह मेरा है, वह तेरा, मैं-तैं, मेरा-तेरा, इत्यादिवाली जो बुद्धि है, वही भेदबुद्धि है। यथा—'*गई न निज पर बुद्धि रहे न राम लौ लाये*' (वि०)। जीव-जीवमें वैषम्य देखना, सबमें निज प्रभुको ही एक समान रमण करते हुए न देखना, राममय वा सियाराममय न देखना, किसीको शत्रु, किसीको मित्र मानना, अपनेसहित सबको भगवद्विभूति न देखना, इत्यादि बुद्धि ही भेदबुद्धि है। यही बात विनयमें कही है। यथा—'*तुलसिदास प्रभु हरहु भेदमति॥*' (७) (विनय-पियूष देखिये)।

नोट—२ '*बिपरीत क्रिया करिये।*' यह भेद-बुद्धिका कार्य दिखाया कि अपनेको बन्धनमें डालनेवाले कर्म कराती है। वह क्या है सो बताते हैं कि संसार दुःखरूप है, इसमें पड़कर बारंबार जन्म-मरण होता है, इस संसृतिक्लेशको सुखरूप मानकर सुखपूर्वक उसमें विहार कर रहे हैं। (बं० पा०)

वै०—भाव कि दुःखमें दुःख और सुखमें सुख यह जो भेद है, इससे विपरीत कर दीजिये जिसमें शत्रु-मित्र-भाव छोड़ सबसे स्नेह रखते हुए दुःख पड़नेपर भी सुख मानकर सुखी रहूँ।

टिप्पणी—'*जेहि ते बिपरीत क्रिया*·········' इति। सत्यको त्यागकर असत्यको ग्रहण करते हैं। वह विपरीतता कहते हैं कि दुःखको सुख मानकर सुखी विचरते हैं। सृष्टि-रचनारूप कर्म दुःखद है, तथापि ब्रह्माने उसीके निमित्त बारंबार बड़ी तपस्या की। यह वृत्तान्त भागवत्‌में स्पष्ट है।

छं०—खलखंडन मंडन रम्य छमा। पदपंकज सेवित संभु उमा॥
नृपनायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज-प्रेम सदा सुभदं॥ ११॥

* पाठान्तर—'जे'।

अर्थ—आप दुष्टोंके टुकड़े-टुकड़े कर डालनेवाले और पृथ्वीके सुन्दर भूषण हैं, आपके चरणकमल श्रीशिवपार्वतीजीसे सेवित हैं। हे राजाओंके राजा! मुझे यह वरदान दीजिये कि आपके चरणकमलोंमें मेरा सदा मङ्गल कल्याणका देनेवाला प्रेम हो॥ ११॥

रा० प्र०—खलखंडन और पृथ्वीको रमणीक और भूषित करनेवाले हो। भाव कि दुष्टोंके भारसे पृथ्वी अभूषित और रम्यसे प्रतिकूल कुछ और ही रीतिकी हो गयी थी, अब भूभार हरनेसे रमणीय है।

नोट—'*नृपनायक*' (राजराजेश्वर) सम्बोधन दिया; क्योंकि सुग्रीवको राजा बनाया था और अभी-अभी विभीषणको राजा किया है। आप भी वर माँगनेको हैं, राजा दानी होते ही हैं, अतः नृपनायक कहकर वर माँगा।

पु० रा० कु०—'***मंडन रम्य छमा***' इति। रम्य अर्थात् अत्यन्त मनोहर हैं, पुनः क्षमारूप हैं, यथा—'**क्षमया पृथिवी समः।**' (मूलरामायण)

प० प० प्र०—यह स्तुति सत्रहवीं स्तुति है और सत्रहवाँ नक्षत्र अनुराधा है। अतः यह स्तुति अनुराधा नक्षत्र है और साम्य इस प्रकार है—(क) 'नामसाम्य' इति। राधा=विशाखा (अमरकोश)। अनुराधा=विशाखाके पश्चात् आनेवाला। यह स्तुति भी विशाखाके पश्चात् हुई है; अतः अनुराधा नाम सार्थक है। (ख) '***तारा संख्या साम्य***' इति। अनुराधामें चार तारे हैं। स्तुतिमें नाम, रूप, लीला और धामका वर्णन ही चार तारे हैं। (ग) 'आकारसाम्य'—नक्षत्रका आकार भक्तबलिके समान है। इस बलिमें चावल, गुलाल, उड़द, पलीता एकके ऊपर एक रखे जाते हैं। वैसे ही इस स्तुतिके प्रत्येक छन्दमें रूप, नाम, धामादिका एक साथ वर्णन है। (घ) अनुराधाका देवता मित्र है। मित्र=सूर्य। इस स्तुतिमें '***रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा***' से विश्व और श्रीरामजीके स्वरूपका बोध कराया है। (ङ) फलश्रुतिसाम्य—'***मेटत कठिन कुअंक भाल के***' यह फलश्रुति है और यह स्तुति भी भालके कुअंक लिखनेवाले ने ही की है। कोई भी जीव (ब्रह्मदेव स्वयं भी) उस कुअंकको मिटा नहीं सकता। पर श्रीरामजीकी कृपासे विधिलिखित अंक भी मिट जाते हैं। ब्रह्मदेवको भी कहना पड़ा '***धिग जीवन देवसरीर हरे।***' भालके कुअंकोंका फल शोक और भय आदि हैं और श्रीरामजी '***भंजन शोक भयं***' हैं यह स्वयं विधिहीने यहाँ कहा है। अतः इस स्तुतिके प्रेमसे पठनसे '***मेटत कठिन कुअंक भाल के***' यह फल मिलेगा।

दो०—बिनय कीन्हि चतुरानन* प्रेम पुलक अति गात।
सोभासिंधु बिलोकत† लोचन नहीं अघात॥ ११०॥

अर्थ—इस प्रकार ब्रह्माजीने स्तुति की। उनका शरीर प्रेमसे अत्यन्त रोमाञ्चित हो रहा है, वे छविसमुद्र रघुनाथजीका दर्शन कर रहे हैं, नेत्र दर्शनसे तृप्त नहीं होते॥ ११०॥

नोट—'***चतुरानन***' पदसे जनाया कि प्रेमके मारे चारों मुखोंसे स्तुति की और आठों नेत्रोंसे दर्शन कर रहे हैं तब भी तृप्त नहीं होते। यथा—'***आठइ नयन जानि पछिताने।***'

तेहि अवसर दसरथ तहँ आए। तनय बिलोकि नयन जल छाए॥ १॥
अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा‡। आसिरबाद पिता तब दीन्हा॥ २॥

अर्थ—उसी समय श्रीदशरथजी वहाँ आये। पुत्रको देखकर उनके नेत्रोंमें जल भर आया॥ १॥ छोटे भाई-समेत प्रभुने उनको प्रणाम किया, तब पिता दशरथजीने उनको आशीर्वाद दिया॥ २॥

पं० रा० व० श०—नैमित्य जीवोंका यह हाल है कि शरीर छूटनेपर उन्हें दूसरा शरीर मिलता है, जो सूक्ष्म होता है पर दशरथजीका तो नित्य-स्वरूप है, इसलिये स्वर्गको जानेपर भी वे वैसे ही बने हैं।

---

* बिनय कीन्हि बिधि भाँति बहु।

† बदन बिलोकत राम कर—(का०, मा०, म०)। मा० म०—'बिधि' कहकर जनाया कि चारों मुखोंसे विधिपूर्वक स्तुति की जिसमें अनेक प्रकारसे ज्ञानादि प्रतिपादित हैं।

‡ सहित अनुज प्रनामु प्रभु कीन्हा (का०)।

नोट—१ (क) *'तेहि अवसर'* अर्थात् ब्रह्माजी जब स्तुति कर चुके तब। *'तहँ'* अर्थात् जहाँ सबने आकर स्तुति की थी वहाँ। (ख) *'तनय बिलोकि'* पदसे जनाया कि जीवित समय जो वात्सल्यभाव, जो सुत-विषयक प्रेम प्रभुमें था वह स्वर्गवास होनेपर भी ज्यों-का-त्यों दृढ़ बना है। प्रभुको देखते ही वही भाव पुन: प्रकट हो आया। इस कथनका अभिप्राय यह है कि ऐसा गाढ़ वात्सल्य आपका है कि ब्रह्मादिको ईश्वर-भावसे स्तुति करते देखकर भी आपका भाव किंचित् शिथिल न हुआ। तभी तो वाल्मी० रा० में उन्होंने कहा है कि देवर्षि जिसे बड़ी वस्तु समझते हैं, वह स्वर्ग भी मुझे तुम्हारे सहवासके समान सुखदायी नहीं प्रतीत होता। यथा—'**न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षिभिः। त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते॥**' (वाल्मी० ११९। १३) (ग) *'नयन जल छाए'* से जनाया कि वनवासके वरदानादिका प्रसंग दृष्टिके आगे नाचने लगा, जैसा वाल्मी० ११९। १४ में कहा है। यथा—'**कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥**' अर्थात् हे वचन बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ! तुमको वनवास देनेके लिये कैकेयीने जो-जो बातें मुझसे कही थीं, वे अभीतक मेरे मनमें ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। उसे स्मरण करते ही प्रेमाश्रुसे नेत्र भर गये। वाल्मी० रामायणमें लिखा है कि दशरथजीने उन्हें गोदमें बिठाकर तब उनसे बातें कीं। '**ततोऽपश्यद्विमानस्थं रामो दशरथं पुरः। ननाम शिरसा पादौ मुदा भक्त्या सहानुजः॥**' (अ० रा० १३। ३५), '**प्राणैः प्रियतरं दृष्ट्वा पुत्रं दशरथस्तदा॥ आरोप्याङ्के महाबाहुर्वरासनगतः प्रभुः। बाहुभ्यां संपरिष्वज्य ततो वाक्यं समाददे॥**' (वाल्मी० ११९। ११-१२)

नोट—२ (क) *'अनुज सहित'* प्रणाम करना इससे कहा कि पूर्व लक्ष्मणजीने सुमन्त्रजीसे पिताके सम्बन्धमें कटुवचन कहे थे, इससे कोई यह न समझ ले कि उन्होंने प्रणाम न किया होगा। पुनः, जनाया कि लक्ष्मणजी भी पितृभक्त हैं। उस समय श्रीरामद्रोही समझकर उन्होंने आवेशमें कटु वचन कह डाले थे। दशरथजीने दोनोंको आशीर्वाद दिया। यथा—'**भ्रातृभिः सहराज्यस्थो दीर्घमायुरवाप्नुहि॥**', '...... **धर्मं प्राप्स्यसि धर्मज्ञ यशश्च विपुलं भुवि**।......' (वाल्मी० ११९। २४—२९) अर्थात् राज्य पाकर भाइयोंके साथ दीर्घायु हो। (रामजीको आशीर्वाद देकर तब लक्ष्मणजीसे बोले कि) धर्मज्ञ! तुम धर्म और पृथ्वीमें विपुल यश पाओगे। गोदमें बैठानेसे शङ्का हो सकती है कि जीव तो स्वर्गमें अंगुष्ठ बराबर सूक्ष्म शरीरसे रहता है जो उसे पुण्यभोगके लिये मिलता है तब गोदमें बिठाना कैसे सम्भव है? समाधान यह है कि श्रीदशरथजी नित्य-परिकर हैं, स्वर्ग प्राप्त होनेपर वहाँ उनको दिव्य शरीर प्राप्त हुआ न कि जीवोंका सूक्ष्म शरीर। (ख) *'आसिरबाद पिता तब दीन्हा'* इति। स्वामिभावसे एवं ऐश्वर्य जाननेपर आशीर्वाद अयोग्य था, इसीसे *'तनय बिलोकि'* और *'पिता'* पद दिये। पिता पुत्रको आशीर्वाद देता ही है।

तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यौं अजय निसाचर राऊ॥ ३॥
सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥ ४॥

अर्थ—(प्रभु बोले कि) हे तात! यह सब आपके पुण्योंका प्रभाव है कि मैंने अजय (जो किसीसे न जीता जाने योग्य था उस) राक्षसराजको जीत लिया॥ ३॥ पुत्रके वचन सुनकर उनकी प्रीति अत्यन्त बढ़ गयी, नेत्र सजल हो गये और रोएँ खड़े हो गये॥ ४॥

नोट—१ (क) *'सकल तव पुन्य प्रभाऊ'* कहकर दशरथजीका शोक निवृत्त किया। भाव यह कि जो हमारा वियोग-दुःख सहकर अपने सत्यव्रतका पालन किया, उसीकी सहायतासे हमने अजित रावणको मारा। (पां०) (ख) *'तव पुन्य प्रभाऊ......'* कहनेसे पाया गया कि श्रीदशरथजीने इस सम्बन्धमें कुछ कहा था। क्या कहा था, यह वाल्मी० रा० में है। उन्होंने कहा था कि रावणको मारकर तुमने देवताओंको संतुष्ट किया और संसारमें बड़ा भारी यश प्राप्त किया। यथा—'**रावणं च रणे हत्वा देवास्ते परितोषिताः॥ कृतं कर्म यशः श्लाघ्यं प्राप्तं ते शत्रुसूदन।**' (सर्ग ११९। २२-२३) अतएव श्रीरघुनाथजी उत्तरमें यहाँ कहते हैं कि यह सब आपके पुण्य-प्रभावसे हुआ।

नोट—२ प्रभुकी ओरसे भी अपने भावका निर्वाह देख, उनके सरल प्रेमभरे वचन सुननेसे प्रेम अब बहुत उमड़ चला। नोट—३ *'अति बाढ़ी।'* अर्थात् प्रेम पहले हृदयमें था ही, पुत्रको देख प्रेम-प्रवाह

वहाँसे बढ़ा और चलकर नेत्रोंमें प्रकट हुआ, यथा—*'तनय बिलोकि नयन जल छाए',* अब बहुत ही बढ़ आया तब नेत्र सजल तो हैं ही, सब रोएँ भी खड़े हो गये। रोमावलिद्वारा वह प्रेम शरीरसे बाहर निकल आया।

बं० पा०—*'नयन सलिल।'* भाव कि मानो वात्सल्यरसके अङ्कुर (रोमावलीरूपसे) जम आये हैं, उन्हें नयन-जलसे सींच रहे हैं। [मिलान कीजिये—*'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत व्याकुल भये। लोचन सरोरुह स्त्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये॥'* (अ० १७६)]

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितै पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥ ५॥

तातें उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ* भेद भगति मन लायो॥ ६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने प्रथमका प्रेम अनुमान कर, पिताकी ओर देखकर उनको अपने स्वरूपका सुदृढ़ ज्ञान दिया॥ ५॥ शिवजी कहते हैं कि हे उमा! दशरथजीने अपना मन भेद-भक्तिमें लगाया था, इसीसे मोक्ष नहीं पाया॥ ६॥

नोट—१ पं० रामकुमारजीका मत है कि *'प्रथम प्रेम'* वह है जो मनुशरीरमें उनका प्रेम था और जो उन्होंने वरदानमें माँगा था, यथा—*'सुत बिषयक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ॥'* पाँड़ेजीका मत है कि प्रथम प्रेम वह है जिससे श्रीरामजीका वियोग होते ही उन्होंने शरीर छोड़ दिया था। श्रीरघुनाथजीने उसीका अनुमानकर प्रेमको घटाकर ज्ञानको दृढ़ कराया अर्थात् अपनेको परमेश्वर जनाया। यही मत प्र० स्वामीजीका भी है। और, पं० शिवलाल पाठकजीका मत है कि श्रीरघुनाथजीने श्रीदशरथमहाराजकी तीन वृत्तियोंको देखा, अर्थात् नैमिषारण्यमें जब मनुरूपसे उन्होंने वर माँगा था, उस समयका उनका प्रेम देखा, फिर अवधभुआल होनेपर जो उनकी वृत्ति थी उसको देखा और स्वर्गसे लङ्कामें आये, इस वृत्तिको देखा। नैमिषारण्यमें उन्हें परस्वरूपका ज्ञान था, इससे उन्होंने प्रभुको दण्ड-प्रणाम किया और वर माँगा। पुनः जब वे दशरथ हुए तब वरदानानुसार वह ज्ञान ढक गया और वे माधुर्य प्रेमवश प्रभुको पुत्र मानकर गोद लेने और प्यार करने लगे। श्रीराम-विरहमें शरीरको छोड़कर जब वे इन्द्रलोकको गये तब भी अयोध्यावाला प्रेम बना रहा, इसीसे वे लङ्कामें आकर मिले और दोनों भाइयोंके प्रणाम करनेपर उसी भावसे उन्होंने आशीर्वाद दिया। तीनों जगहकी वृत्तिको देख प्रभुने ज्ञानोपदेश देकर परस्वरूपका बोध कराया।

टिप्पणी—*'चितै पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना'* इति। (क) अपनेमें सुत-स्नेह-निवारणार्थ एवं सच्चिदानन्द-स्वरूप-ज्ञानार्थ दृढ़ ज्ञान दिया। यथा—**'इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः। वधार्थं रावणस्येह पिहितं पुरुषोत्तमम्॥'** (वाल्मी० ११९। १७) अर्थात् हमने अब आपको जाना। आप देवताओंको भी अज्ञात हैं। रावणके वधके लिये आप छिपे हुए पुरुषोत्तम हैं। (इतना ही नहीं, उन्होंने उसी समय लक्ष्मणजीसे कहा है कि **'रामं शुश्रूष भद्रं ते सुमित्रानन्दवर्धन। रामः सर्वस्य लोकस्य शुभेष्वभिरतः सदा॥ एते सेन्द्रास्त्रयो लोकाः सिद्धाश्च परमर्षयः। अभिगम्य महात्मानमर्चन्ति पुरुषोत्तमम्॥ एतत्तदुक्तमव्यक्तमक्षरं ब्रह्मनिर्मितम्। देवानां हृदयं सौम्य गुह्यं रामः परन्तपः॥'** (वाल्मी० १२२। २९—३१ च० सं०) हे सुमित्रानन्दवर्धन! श्रीरामजी समस्त लोकोंका हित करनेमें सदा तत्पर रहते हैं; अतएव इनकी सेवा-शुश्रूषा तुम सदा करते रहना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा। देखो, ये इन्द्रसहित तीनों लोक, सिद्ध और महर्षि सभी श्रीरामचन्द्रजीकी वन्दना और पूजा करते हैं, क्योंकि ये पुरुषोत्तम हैं। वेदोंमें जिस अव्यय अक्षय्य ब्रह्मको देवताओंका अन्तर्यामी और गुह्य-तत्त्व बताया गया है, शत्रुविनाशी श्रीराम वही हैं।—इससे स्पष्ट है कि उन्हें श्रीरामके ब्रह्म होनेका दृढ़ ज्ञान हो गया। आगे इस ऐश्वर्य ज्ञानसहित भक्ति करेंगे। (ख) दृढ़ निश्चल ज्ञान दिया जिससे पुनः मोह न हो। तात्पर्य कि महाराजको कभी-कभी ज्ञान हो जाता था पर तुरंत ही फिर मोह हो जाता था। यथा—*'मोरे गृह आवा प्रभु सोई'* इत्यादि। सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानपूर्वक भक्तिसे मोह नहीं होता, यथा—*'मायासंभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि। जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥'* (उ० ८५) ज्ञान होनेपर

* पावा, लावा—(का०, मा० म०)।

सुतभाव नहीं रहता। यथा—'**मयाप्येतन्न वक्तव्यं रामस्याक्लिष्टकर्मणः। यथा एतान्न जानन्ति परं तत्त्वं महात्मनः। विदितं परमेतत्त्वं पुत्रभावं व्रजिष्यति।**' (सत्योपाख्यान-वसिष्ठवचन) अर्थात् अक्लिष्टकर्म रामका प्रभाव हमारे कहने योग्य भी नहीं है; क्योंकि ये सब रामजीके परतत्त्वको नहीं जानते। यदि ये परम-तत्त्वको जान जायँगे तो इन माताओंका पुत्रभाव न रह जायगा। वा, प्रेम अनुमानकर ज्ञान दिया। भाव कि जो भक्तिमान् है, वही ज्ञानका अधिकारी होता है। यथा—'***ब्रह्मज्ञानरत मुनि बिज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥ लागे करन ब्रह्म उपदेस। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥***' (उ०)

नोट—२ दृढ़ ज्ञान इसलिये दिया कि साधारण ज्ञानसे भी मोह हो जाता है। ज्ञानके अभावमें, पुत्रादिके वियोगमें शोकादि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव दृढ़ ज्ञान दिया जिसमें हमारे वियोगसे ये कहीं फिर दिव्य शरीर भी न त्याग दें। (बं० पा०) प्रेमका किंचित् अवरोध करनेको प्रभुने ज्ञान दिया, जिसमें ऐश्वर्यका बोध प्राप्तकर ये कभी भी वियोग न मानें। ज्ञान होनेपर वियोगका विचार ही असम्भव है। ऐसा न करते तो संभव था कि दशरथजी लौटकर जाते ही नहीं, जिससे लीलाकी मर्यादाके निर्वाहमें विघ्न पड़ता (पं० रा० व० श०)। (ख) '***चितै***' से जनाया कि दृष्टिपातद्वारा यह कृपा की। मानसमें चार प्रकारसे ज्ञानका देना पाया जाता है। दृष्टिपात, वचन, स्पर्श और संकल्पसे। विशेष कि० ११ (३) '***दीन्ह ज्ञान हरि लीन्हीं माया***' देखिये।

'दसरथ भेद भगति मन लायो'

पु० रा० कु०—'***भेद भगति······।***' भेदपूर्वक भक्ति उपासना है। उपासनामें मन लगाया—[उपासनामें उपास्य-उपासक-भेद होता है, उसमें उपासक अपनेको उपास्यसे पृथक् मानता है, बिना इस भेदभावके उपासना हो नहीं सकती। कैवल्यमोक्षमें भिन्नता नहीं रहती।]—इसीलिये मोक्ष नहीं हुआ। यथा—'**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति** ।' इति (श्रुतिवाक्य)

बं० पा०—अर्थात् मन लगाकर दृढ़ भेदबुद्धिकी उपासना की और वेदान्तियोंका सिद्धान्त है कि बिना अभेद उपासनाके मुक्ति नहीं होती; तब परम विज्ञ राजा दशरथजीने ऐसी उपासना क्यों न की? पार्वतीजीकी इस शङ्काके निवारणार्थ शिवजी उत्तर देते हैं कि सगुणोपासक (वात्सल्यादि भावोंके उपासक) मोक्ष नहीं लेते। आ० ११ (२१) देखो।

करु०—कोई-कोई ज्ञानको अभेदभक्ति कहते हैं पर यहाँ उससे प्रयोजन नहीं है। भक्ति दो प्रकारकी है—एक अभेद-भक्ति, दूसरी भेद-भक्ति। शान्तिरसमें आरूढ़ होना शृङ्गाररसारूढ़ हो बराबर रसभाव भोग्य चाहना, सख्यरसारूढ़ हो सारूप्य होकर बराबर रसक्रीड़ा भोग्य चाहना और दास्यरसारूढ़ हो अलङ्कारादि होकर सेवाभाव चाहना—ये चारों अभेद-भक्तिद्वारा परमपद चाहते हैं। और दास्यरस-वात्सल्य-रसारूढ़ होकर परमपद चाहना भेदभक्ति है। इसमें भी दो भेद हैं—एक सकाम दूसरी निष्काम। जो निष्काम हो दर्शन चाहते और रामरजायमें सदा आरूढ़ होते हैं, उन्हींमें दशरथजी हैं। सब लीला देखकर प्रभुके साथ ये परमधामको जायँगे।

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि दशरथजी तो प्रेमभक्तिमें पगे हुए थे, प्रभुने उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया। इससे शङ्का होती है कि क्या ज्ञान उससे अधिक उत्कृष्ट है? इसीके समाधानमें शिवजी कहते हैं '***तातें उमा मोक्ष······***' भाव यह है कि श्रीदशरथजी भेद-भक्तिमें लीन थे और श्रीरामचन्द्रजीने दृढ़ ज्ञान देकर मोक्ष देना चाहा, परंतु श्रीदशरथजीने उसे नहीं लिया तब श्रीरामचन्द्रजीने सुखधाम-भक्ति प्रदान की, क्योंकि यदि ज्ञानको स्वीकार करते तो मोक्ष पाते तो ज्ञानका फल है। वे तो '***हरषि गए सुरधाम***' जहाँसे प्रभुके साथ परमधाम जायँगे। (अ० दी० च०)

वि० त्रि०—इतना सब हो गया, पर महाराज दशरथको अब भी श्रीरामजीपर पुत्रबुद्धि है, (यथा'***तनय—बिलोकि नयन जल छाये***') अतः अनुजके सहित सरकारने वन्दना की, पिताने आशीर्वाद दिया। सरकारने देखा कि मेरा दिया हुआ वरदान इन्हें अज्ञानमें डाले हुए है, मेरे स्वरूपको ये नहीं जान पा रहे हैं, (यथा '***सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बरु मूढ़ कहै किन कोऊ॥***') अतः पश्यन्तीद्वारा उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया। पुत्र समझकर उपासना करना यहाँ भेद-भक्ति है, अतः उसे ज्ञानद्वारा हटाया। अतः मोक्षकी उपस्थिति हुई, पर सगुण उपासकको मुमुक्षा नहीं होती, वे ज्ञान प्राप्तिपर भी भक्ति ही चाहते हैं, यथा—'**पारमार्थिकमद्वैतं**

द्वैतं भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिः शताधिका॥' परमार्थ तो अद्वैत हो और भजनके लिये द्वैत हो, यदि ऐसी भक्ति हो तो वह सौ मोक्षसे भी अधिक है, यह सिद्धान्त तो अद्वैतवादियोंका भी है। अतः ज्ञान हो जानेपर महाराजदशरथने भक्ति ही स्वीकार की, जैसा कि उनके प्रणाम करनेसे स्पष्ट है। जाते समय सरकारने वन्दना नहीं की, क्योंकि दशरथजीको अब पुत्रबुद्धि नहीं है।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥७॥
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गये सुरधामा॥८॥

अर्थ—सगुणरूपके उपासक मोक्ष नहीं लेते, उनको श्रीरामजी अपनी खास भक्ति देते हैं॥ ७॥ इस प्रकार प्रभुको बारंबार प्रणामकर प्रसन्न हो दशरथजी देवलोकको गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं।'* जिसका चित्त भगवान्‌में अनुराग कर चुका है, उसने स्वर्गको भी तुच्छ समझ लिया है और वह मुक्तिका भी अपमान कर देता है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—**'अनुरक्तिकृतं चित्तं यस्य श्रीरामपादयोः। तेन तुच्छीकृतः स्वर्गो मुक्तिरप्यवमानिता'**, *'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरि आईं॥ जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥ तथा मोक्षसुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरिभगति बिहाई॥ अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लोभाने॥'* (उ० ११९। ४—७) [☞स्मरण रहे कि यहाँ *'मोच्छ'* से कैवल्य मुक्ति अभिप्रेत है, जिसमें जीव भगवान्‌में लीन हो जाता है। यथा—*'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ॥'* (३। ९। २), उसकी पृथक् सत्ता, स्थिति हस्ती रह नहीं जाती। सगुणोपासक भी मुक्त हो जाता है, उसकी मुक्ति भवबन्धनसे छूटनामात्र है, वह परधामको जाता है, वहाँ भी कैङ्कर्यपरायण ही रहता है।]

प्रश्न—सगुणोपासक मोक्ष क्यों नहीं लेते? उत्तर—(१) अगम जानकर, यथा—*'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥ करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥ कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न जप तप ब्रत उपवासा॥'* (उ० ४५। ३। ४६। १)

[पंडितजीने जो उद्धरण दिये हैं उनसे तो यह कारण नहीं सिद्ध होता। उनसे तो स्पष्ट है कि कठिन साधन करके भी जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वह भी भक्तिके आगे तुच्छ है, क्योंकि भक्तिहीन ज्ञानी भी प्रभुको प्रिय नहीं हैं। फिर भक्ति होनेपर भी यदि भक्तकी इच्छा कैवल्य मोक्षकी हो तो वह भी भक्ति करनेसे ही बिना कष्टके प्राप्त हो जाती है। पर भक्त तो उस सौन्दर्यनिवास दिव्यमूर्तिका नित्य दर्शन, संग-सुख ही चाहता है। वह कैवल्य-मोक्षपर लात मारता है। ☞भक्त किसी प्रकारकी मुक्ति नहीं चाहता और न वह ज्ञानसे मिलनेवाला कैवल्यमोक्ष चाहता है। वह तो यही चाहता है कि मेरा तो सेवक-स्वामिभाव कभी न छूटे, वह भगवान्‌के देनेपर भी मोक्षादिको नहीं लेता, वह तो प्रभुको ही चाहता है। यथा—**'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥'** (भा० ३। २९। १३), **'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्॥'** (भा० ११। १४। १४) श्रीहनुमान्‌जीने भी अन्यत्र यही कहा है कि मैं भवबन्धन छुड़ानेवाली उस मुक्तिको कदापि नहीं चाहता, जिसमें स्वामि-सेवक-भावका विलोप हो जाता है। अरण्यकाण्डमें *'प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ।'* (९। २) में लिखा जा चुका है कि प्रभुके दर्शनसे पशु-पक्षियोंको ज्ञान उत्पन्न हो जानेपर वे भक्ति ही माँगते थे तब भला शरभंगजी विशुद्ध ज्ञानको पाकर निर्गुणवादियोंकी मुक्ति कैसे चाहते! और दशरथजीका मन सगुणभक्तिरसमें रँगा हुआ है तब भला वे उस कैवल्य मुक्तिको कैसे स्वीकार करते? यथा—*'जिन्हके मन मगन भए हैं रस सगुन तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि।* (गी० ३। ५) विशेष ३। ९ (१) और ३। ११ (१७-२१) देखिये।]

(२) दूसरा हेतु यह है कि केवल ज्ञानीको माया क्षुभित कर देती है, भक्तको क्षुब्ध नहीं कर सकती। यथा—*'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥'* (उ० ५९), *'प्रभुमाया बलवंत भवानी। जेहि न मोह कवन अस ज्ञानी॥'*, *'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥ अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥'* (७। ११६। ६—८)

(३) ब्रह्मसुखसे भक्तिसुख अधिक है, इसीसे राजाने भक्ति की। यथा—'*जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिवसुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोइ सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति।*'

वह समस्त सुख श्रीदशरथमहाराजको प्राप्त था। तब उनके लिये मुक्ति तो बहुत सुलभ थी, यदि वे उसे चाहते और लेते। श्रीमद्भगवद्वाक्य है कि भगवद्भक्तियोगसे निर्मल चित्त होनेपर मुक्तसंग भक्तको तत्त्वज्ञान स्वत: हो जाता है, जड़चेतनमय हृदयकी ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, संशयोंका छेदन हो जाता है और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं। वह अपनी आत्मामें ईश्वरको देख लेता है। इसी हेतु सर्वज्ञ बुद्धिमान् लोग परमानन्दके साथ भगवान्‌में परमभक्ति करते हैं। यथा—'**एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः। भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥ अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा। वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादिनीम्॥**' (भा० १।२।२०—२२) इससे चक्रवर्तीजीके मोक्षमें संदेह नहीं, वह तो सदैव उनके करतलगत है। परंतु श्रीरामजीका माधुर्य-संयुक्त-वात्सल्यरस छोड़ वे ब्रह्मसुखमें प्रीति नहीं मानते हैं; वे जानते हैं कि इसी वात्सल्य सुखनिमित्त तो पुरारि अशुभ वेष धारण करते हैं।

खर्रा—'*बारबार करि प्रभुहि प्रनामा।*' प्रभुने ज्ञान दिया तब प्रभु जानकर प्रणाम करते हैं। ऐश्वर्यभावसे प्रणाम किया।

मयूख (मा० म०)—'श्रीदशरथजीका प्रेम नैमिष, श्रीअयोध्याजी और लङ्का तीनों स्थानोंमें समान बना रहा। वही प्रेम लङ्कामें विशेषत: उत्कृष्ट हुआ; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीने ज्ञान देकर इच्छा की कि दशरथजीको मुक्ति दें, परंतु उन्होंने ज्ञानका निरादर करके मोक्षकी इच्छातक न की, श्रीरामचन्द्रजीकी भक्तिहीपर आरूढ़ रहे।………जो लोग कहते हैं कि प्रेमसे उत्तम ज्ञानको जानकर श्रीरामचन्द्रजीने श्रीदशरथजीको ज्ञान प्रदान किया वे पामर हैं, यह नहीं विचारते कि अतुलनीय भक्ति श्रीदशरथजीमें देखकर श्रीरामचन्द्रजीने श्रीदशरथजीको ज्ञान दिया; परंतु उन्होंने ज्ञानको न धारण करके भक्ति ही स्वीकार की। श्रीरामचन्द्रजीने परीक्षार्थ ज्ञान दिया था। यदि वे भक्तिको दूर करके ज्ञान देते तो कदापि वह ज्ञान चलायमान होता। अतएव सिद्ध है कि परीक्षार्थ ज्ञान दिया था। परंतु अन्तत: भक्तिको श्रेष्ठ जान उसीको दृढ़ किया और दशरथजी मोक्ष-पदको स्वीकार न कर स्वर्गको चले गये।

श्रीरामचन्द्रजीने श्रीदशरथजीको आते ही प्रणाम किया और जाते समय श्रीदशरथजीने श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम किया; अत: श्रीदशरथजी नैमिषारण्यका प्रेम पाकर परम आनन्दित होकर चले गये।

नोट—'श्रीरामजीके भक्त उनके धामको जाते और फिर संसारमें नहीं आते; यही उनकी मुक्ति है। तब मोक्ष नहीं लेनेकी बात क्यों कही गयी?' यह शंका उठाकर पं० श्रीकान्तशरणजी उसका उत्तर यह देते हैं—'भक्त लोग भक्तिका कोई फल नहीं चाहते; क्योंकि उसमें भगवान् और उनकी भक्ति साधनमें आ जाते हैं और मुक्ति फलरूपमें हो जाती है। इसलिये भक्त लोग भक्तिहीको फलरूपा मानते हैं, यथा—'**फलरूपत्वात्**' (नारदभक्तिसूत्र २६)। '*तीर्थाटन साधन……सब कर फल हरि भगति भवानी।*' (उ० १२६) क्योंकि नित्यधाममें भी ये अपने भावानुसार सेवासहित ही आनन्दोपभोग करते हैं। यथा —'**सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।**' (तैत्ति० २।१) वह मुक्ति ही है, क्योंकि इनका संसारमें आना नहीं होता' (मेरी समझमें इसका उत्तर यही है कि 'मोक्ष' का अर्थ केवल निर्गुणवादियोंका मोक्ष, कैवल्य मोक्ष ही यहाँ है, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है।)

दो०—अनुज जानकी सहित प्रभु कुसल कोसलाधीस।
सोभा देखि हरषि मन* अस्तुति कर सुर ईस॥१११॥

अर्थ—भाई श्रीलक्ष्मण और श्रीजानकीसहित सब प्रकार कुशल कोसलपति प्रभु रामचन्द्रजीकी शोभा

* छबि बिलोकि मन हरष अति।—(का०)।

देखकर मनमें हर्षित होकर देवताओंके राजा इन्द्र स्तुति करने लगे॥ १११॥

नोट—१ मिलान कीजिये—'**दृष्ट्वाथ रामं जनकात्मजायुतं श्रिया स्फुरन्तं सुरनायको मुदा। भक्त्या गिरा गद्गदया समेत्य कृताञ्जलिः स्तोतुमथोपचक्रे॥**' (अ० रा० १३। २३) (अर्थात् उस समय जनकनन्दिनी श्रीसीताजीके सहित भगवान् रामको कान्तिसे सुशोभित देख देवराज इन्द्र अति प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़कर भक्ति-गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगे।) श्लोकमें '*अनुज*' शब्द नहीं है। '*प्रभु कोसलाधीस*' की जगह '*राम*' है। '*कुसल*' की जोड़का शब्द नहीं है। '*सोभा देखि*' ही '**दृष्ट्वाथ श्रिया स्फुरन्तम्**' है। 'जानकी-सहित' ही '**जनकात्मजायुतम्**' है। '*अस्तुति कर*' ही '**स्तोतुमथोपचक्रे**' में और '*सुर ईस*' ही '*सुरनायकः*' है। '**मुदा भक्त्या गिरा गद्गदया समेत्य कृताञ्जलिः**' का भाव '*हरषि मन*' से जना दिया है। नोट—२ '*कुसल*' में दोनों भाव हैं। परम कुशल कोसलाधीश तथा सबोंको सकुशल देखकर। सकुशलसे सूचित करते हैं कि इन्द्रको इस युद्धमें इन सबोंके कुशलमें संदेह हो जाता था। अब कुशल देखकर '**प्रभु**' जाना और अपना स्वार्थ सधा, अतः प्रसन्न हुए और भक्तिपूर्वक स्तुति करने लगे।

वि० त्रि०—रावणको रथी और रामजीको विरथ देखकर जिस भाँति विभीषण अधीर हुए, उसी भाँति देवताओंके सहित इन्द्रभगवान् भी अधीर हो उठे। भेद इतना ही पड़ा कि भविष्य सोचकर विभीषणजी पहले ही अधीर हुए और इन्द्र समयके समयपर अधीर हुए। विभीषणके पास कोई साधन नहीं था, इसलिये जीतनेकी विधि पूछने लगे। इन्द्रके पास साधन था, अतः तुरंत रथ भेज दिया। संदेह यही था कि रावणका सामना होनेपर किसीका भी सकुशल रहना बड़ा कठिन है, सो लक्ष्मण सीताके सहित कोसलाधीशको सकुशल देखा, उस समय ऐसी शोभा हो रही थी कि दर्शन करके मन प्रसन्न हो गया। मनमें आया कि सरकारने देवताओंका इतना बड़ा काम इतना कष्ट सहकर किया, अब मैं कौन-सी सेवा इनकी करूँ; अतः स्तुति करके सेवाके लिये पूछते हैं कि 'मैं क्या करूँ?'

तोमर छंद—जय राम सोभाधाम दायक प्रनत बिश्राम।
धृत त्रोन बर सर चाप भुजदंड प्रबल प्रताप॥ १॥
जय दूषनारि खरारि मर्दन निसाचर धारि।
येह दुष्ट मारेउ नाथ भये देव सकल सनाथ॥ २॥

अर्थ—शोभाधाम, शरणागतको विश्राम देनेवाले, श्रेष्ठ, (अक्षय) तरकश, बाण और धनुष धारण किये हुए जिनके भुजदण्डोंका प्रताप प्रबल है एवं जिनके भुजदण्ड और प्रताप प्रबल हैं, उन आप श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो॥ १॥ हे खर और दूषणके शत्रु! हे निशिचरसेनाके मर्दन करनेवाले! आपकी जय हो! हे नाथ! आपने इस दुष्टको मारा जिससे समस्त देवता सनाथ हुए। (अर्थात् अबतक अनाथकी तरह मारे-मारे फिरते थे, जैसा नीच रावण नचाता था वैसा नाचना पड़ता था। आपकी कृपासे अब घरमें रहनेको मिला)॥ २॥

नोट—१ (क) '*दायक प्रनत बिश्राम*' इति। सब देवता रावणके अत्याचारसे प्रभुकी शरण गये थे। यथा—'*सरन सकल सुरजूथा*', '*सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा*' (१। १८६) उन्हींमें इन्द्र भी थे। अब रावणके वधसे विश्राम मिला, इस भावसे '*दायक*.........' कहा। (ख) '*बर सर चाप*' '*भुजदंड प्रबल प्रताप*' कहकर स्तुति करनेका भाव कि मेरा वज्र और विष्णुचक्र भी रावणका बाल बाँका न कर सके थे और आपने उसे धनुष-बाणसे मार डाला। हम सबोंका प्रताप रावणके सामने कुछ काम-का सिद्ध न हुआ और आपका बल-प्रताप प्रत्यक्ष देख पड़ा।

नोट—२ (क) '*दूषनारि खरारि*' कहनेका भाव कि ये सब अजेय और अमर थे, हम सबको सताया करते थे। पुनः खरवधके समय जो शोभा थी वह इस समय है इससे भी '*खरारि*' कहा। (ख) '**येह**' दुष्टसे जनाया कि इन्द्र इस समय भी ऐसा समझते हैं मानो वह प्रत्यक्ष सामने है। उसका स्मरण करते उन्हें भय लग रहा है। भय ऐसा समा गया है कि उसके मरनेपर भी उसे मानो सामने देख रहे हैं। (ग) '*किये सनाथ—भुजदंड प्रबल प्रताप*' कहकर '*किये सनाथ*' कहनेका भाव कि इन्हीं भुजदण्डोंद्वारा आपने हमें सुबस बसाया है। यथा—'*दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह*

के जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं॥' (गी० ७। १३); *'मारे रन रातिचर रावन सकुल दल''''''आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै, तुलसी निहाल कै कै दिये सरखतु हैं।'* (क० ६। ५८)

तोमर छंद—जय हरन धरनीभार महिमा उदार अपार।
जय रावनारि कृपाल किये जातुधान बिहाल॥ ३॥
लंकेस अति बल गर्ब किये बस्य सुर गन्धर्ब।
मुनि सिद्ध नर खग नाग हठि पंथ सब के लाग॥ ४॥

अर्थ—हे भूमिभारके हरनेवाले! हे अपार एवं श्रेष्ठ महिमावाले! आपकी जय हो। हे कृपालो! हे रावणके शत्रु! आपकी जय हो। आपने निशिचरोंको बेहाल (व्याकुल) कर दिया॥ ३॥ लङ्कापति रावणको बलका बड़ा भारी घमण्ड था। उसने देवता और गन्धर्व सभीको अपने वश कर रखा था। (यही नहीं वरन् किसीको भी न छोड़ा) मुनि, सिद्ध, मनुष्य, पक्षी, नाग आदि सभीके पीछे हठपूर्वक पड़ा था॥ ४॥

नोट—१ *'महिमा उदार अपार।'* भाव कि जिसके रोम-रोममें अनेक ब्रह्माण्ड हैं, उसकी महिमा किस वस्तुको लेकर वर्णन की जा सकती है। यथा—*'भुवन अनेक रोम प्रति जासू।''''''''सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी॥'* (७। २२) अतः *'उदार* और *अपार'* कहकर जनाया कि वह मन और वाणीसे परे है। 'महिमा' किंचित् भुशुण्डिजीने उ० ९१-९२ में वर्णन की है। यथा—*'महिमा नाम रूप''''''''।* (७। ९१। ३) से *'राम अमित गुनसागर''''''''।'* (९२) तक। नोट—२ 'पंथ लगना' मुहावरा है। अर्थात् पीछे पड़ना, बराबर तंग करना। नोट—३ *'हठि'* का भाव कि सज्जन पुरुषोंके निवारण करनेपर भी न माना। यथा—*'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सब ही के पंथहि लागा॥'* (१। १८२)

तोमर छंद—परद्रोहरत अति दुष्ट पायो सो फलु पापिष्ट।
अब सुनहु दीनदयाल राजीवनयन बिसाल॥ ५॥
मोहि रहा अति अभिमान नहिं कोउ मोहि समान।
अब देखि प्रभुपदकंज गत मान प्रद दुखपुंज॥ ६॥

अर्थ—जैसा वह पराये द्रोहमें संलग्न, अत्यन्त दुष्ट और महापापी था, वैसा ही उस अतिशय पापीने फल पाया। हे कमलसमान विशाल नेत्रवाले! हे दीनोंपर दया करनेवाले! अब सुनिये॥ ५॥ मुझे अत्यन्त अभिमान था कि मेरे समान कोई नहीं है परंतु अब प्रभुके चरणकमल देखकर दुःखसमूहका देनेवाला मेरा वह अभिमान जाता रहा॥ ६॥

पु० रा० कु०—*'पायो सो फल पापिष्ट।'* भाव कि स्वकृत पापका फल नाश है, वह फल उसने पाया, इसमें आपका दोष नहीं। यथा—*'चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्टै नहिं सोई॥'* (५। ३८। ७), *'बिस्वद्रोहरत यह खल कामी। निज अघ गएउ कुमारगगामी॥'* (१०९। ४)

रा० प्र०—*'राजीवनयन'* का भाव कि आपको एवं आपके राजिवनयनोंको देख हम सब हृष्ट-पुष्ट हुए। रावणको देख-देख हमारा रुधिर सूख जाता था। अर्थात् अब अपने-अपने भाग पाकर संतुष्ट हुए। कमल रक्तवर्द्धक और आह्लादकारक है।

नोट—*'मोहि रहा अति अभिमान''''''''*'—ऐसा ही अ० रा० में कहा है। यथा—**'अहं मानपानाभिमत्तप्रमत्तो न वेदाखिलेशाभिमानाभिमानः। इदानीं भवत्पादपद्मप्रसादात् त्रिलोकाधिपत्याभिमानो विनष्टः॥'** (१३। २९) अर्थात् हे प्रभो! मैं तो सम्मान और सोमपानके उन्मादसे मतवाला हो रहा था, सर्वेश्वरताके अभिमानवश मैं अपने आगे किसीको कुछ भी न समझता था। अब आपके चरणकमलोंकी कृपासे मेरा त्रिलोकाधिपतित्वका अभिमान चूर हो गया।

पं०—प्रभुपदपंकज देख अभिमान जाता रहा, इस कथनका तात्पर्य यह है कि मेरे बल, रूप आदि आपके पदरजकी समताको भी नहीं पा सकते।

तोमर छंद—कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसलभूप श्रीराम सगुन सरूप॥ ७॥
बैदेहि अनुज समेत मम हृदय करहु निकेत।
मोहि जानिए निज दास दे भक्ति रमानिवास॥ ८॥

अर्थ—कोई निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करते हैं जिनको वेद अव्यक्त कहते हैं। परंतु हे श्रीराम! मुझे तो आपका यह सगुण कोसलपति श्रीरामस्वरूप ही अच्छा लगता है॥ ७॥ श्रीसीतालक्ष्मणसहित मेरे हृदयमें अपना घर बनाइये। हे रमानिवास! मुझे अपना दास समझिये और अपनी भक्ति दीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ *अव्यक्त*=अलक्ष्य [केनोपनिषद्में गुरुजी शिष्यको ब्रह्मका स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि प्राकृत इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण वहाँतक पहुँच ही नहीं सकते तब मन और इन्द्रियोंद्वारा कोई कैसे बतलाये कि ब्रह्म 'ऐसा' है। उसको संकेतद्वारा ही समझाया जाता है, इस तरह कि **'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। ·······यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँ्षि पश्यति।·······यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ् श्रुतम्। यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि॥'** (१। मन्त्र ४—८) अर्थात् जो वाणीके द्वारा नहीं बतलाया गया है, जो वाणीसे प्रकाशित नहीं है; किंतु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, जिसकी शक्तिसे वाणी बोली जाती है। जिसको कोई मनसे नहीं समझ सकता, जो मनसे मनन नहीं किया जाता, किन्तु जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, जिसकी शक्ति और प्रेरणाको पाकर मन अपने ज्ञेय पदार्थोंको जानता है। जिसको कोई नेत्रसे नहीं देख सकता; बल्कि जिसकी सहायतासे चक्षु अपने विषयोंको देखता है, जिसको कोई श्रोत्रद्वारा नहीं सुनता; किंतु जिससे श्रोत्र-इन्द्रिय सुनी जाती है, जो प्राणद्वारा विषय नहीं किया जाता, बल्कि जिससे प्राण अपने विषयोंकी ओर जाता है—उसीको तू ब्रह्म जान।

अव्यक्तसे उपर्युक्त अलक्ष्य अप्रकट अन्तर्यामी स्वरूप अभिप्रेत है, जिससे समस्त जगत् व्याप्त है। गीतामें जो कहा है **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।'** (९। ४) उसका ***'अव्यक्तमूर्तिना'*** यही है। यह अव्यक्त स्वरूप निर्गुण वा अगुण कहा गया है, अप्रकट होनेसे वह अगुण है, प्रकट वा व्यक्त होनेपर वही सगुण कहलाता है। बालकाण्ड-नामवन्दन-प्रकरणमें इसपर लिखा गया है। अव्यक्त और व्यक्त वे दोनों ही स्वरूप श्रीरामजीके हैं। यथा—**'व्यक्तमव्यक्त, गतभेद, विष्णो।'** (वि० ५४), **'व्यक्ताव्यक्तस्वरूपस्त्वं गुणभृन्निर्गुणः परः।'** (प० पु० उ० २४२। ७४), 'निर्गुणरूप महाविभूतिसंयुक्त है, सगुणरूप दयाका विस्तार है। वह वाणी और मनके लिये अगम्य है, यह वाणी और मनको आकर्षित करता है। भक्तोंके लिये वही तत्त्व व्यक्त हो जाता है। बाल० २३ (१), २३ (४-५) तथा ११६ (१-२) देखो।

टिप्पणी—२ *'मोहि भाव कोसलभूप'* इति। मिलान कीजिये—*'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥'* (३। १३। १२-१३), पुनः *'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥'* (७। १३), *'जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥ जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥'* (३। ११। १९-२०) जैसे अगस्त्यजी और सुतीक्ष्णजी आदिने अव्यक्त और व्यक्त, निर्गुण और सगुण दोनों रूपोंमें प्रवेश रखते हुए भी सगुणस्वरूपमें ही प्रेम किया, वैसे ही इन्द्र भी अब उसी रूपकी भक्ति चाहते हैं।

पं० रा० ब० श०—१-*'श्रीराम सगुन सरूप।'* भाव कि सगुण स्वरूप भी आपके बहुत हैं पर मुझे यही श्रीराम-सगुण-स्वरूप भाता है। २—जबतक संसारपदार्थ-भोगकी एवं मुक्तिकी इच्छा रहती है तबतक भक्ति नहीं मिलती। श्रीदशरथजीसे यह शिक्षा पाकर इन्द्र भी भक्ति ही माँगते हैं।

रा० प्र०—*'रमानिवास'*। रमा अर्थात् श्रीजानकीजीके हृदयमें आपका एवं आपके हृदयमें श्रीजानकीजीका निवास है, यथा—*'सो मन रहत सदा तोहि पाहीं'*, *'जानकी उर मम बास है॥'* (९९) एवं *'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट'*—[रमा नाम श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मीजी दोनोंका है]

छं०—दे भक्ति रमानिवास त्रासहरन सरन सुखदायकं।
सुखधाम राम नमामि काम अनेक छबि रघुनायकं॥
सुरबृंद-रंजन द्वंद-भंजन मनुजतनु अतुलित बलं।
ब्रह्मादि-संकर-सेब्य राम नमामि करुना कोमलं॥

अर्थ—हे रमानिवास! हे शरणागतके (भव) भयके हरने और सुख देनेवाले! मुझे अपनी भक्ति दीजिये। अनेक कामदेवोंकी छबिवाले, सुखके स्थान, रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। हे देवमण्डलियोंको आनन्द देनेवाले, (हर्ष, शोक, जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि) द्वन्द्वोंके नाश करनेवाले, मनुष्यशरीरधारी, असीम बलवान्, ब्रह्मादिशङ्करसे सेवा किये जाने योग्य (वा, उनके स्वामी) करुणामय कोमल स्वभाव श्रीरामचन्द्रजी मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

खर्रा—'*सुखधाम राम*'। योगियोंके लिये सुखधाम सूचित करनेके लिये '*राम*' कहा और भक्तोंको प्रत्यक्ष सुखदाता हैं। २—'करुणा कोमल' का भाव कि करुणाके कारण कोमल हो।

दो०—अब करि कृपा बिलोकि मोहि आयसु देहु कृपाल।
काह करौं सुनि प्रिय बचन बोले दीनदयाल॥ ११२॥

अर्थ—हे कृपालु! अब कृपा करके मुझे (कृपादृष्टिसे) देखकर आज्ञा दीजिये कि मैं क्या (सेवा) करूँ? इन्द्रके प्रिय वचन सुनकर दीनदयाल श्रीरामजी बोले॥ ११२॥

नोट—सेवा कराना भी कृपा है, नहीं तो जो चराचरमात्रका पालन करता है, उसको सेवाकी आवश्यकता कहाँ और उसकी सेवा कोई क्या करेगा? ब्रह्मादिक सेवा चाहते हैं पर कहाँ मिले? यथा—'*सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥*' (२२। १) सेवा कृपासे ही मिलती है। इसीसे '*कृपाल*' विशेषण दिया। यथा—'*प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥*' (उ० २५। २)

पं०—१ इन्द्र तो सम्मुख खड़े ही हैं तब '*बिलोकि मोहि*' कैसे कहा? इस कथनमें भाव यह है कि इन्द्र प्रभुकी स्तुति कर रहे हैं और उत्तम पुरुषोंकी रीति है कि वे अपनी स्तुति सुनकर नेत्र नीचे कर लेते हैं—'*निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।*' अतः इन्द्रने प्रार्थना की कि मेरी ओर देखिये। अथवा, इससे जनाया कि हमारे निमित्त आपको बहुत कष्ट उठाना पड़ा और हमसे कुछ भी सेवा नहीं हुई; इस अवज्ञाको क्षमा कीजिये और मेरी ओर कृपादृष्टिसे देखकर सेवाकी आज्ञा दीजिये। ['*अब करि कृपा बिलोकि मोहि*'—इन शब्दोंसे अनुमान होता है कि इन्द्रने हाथ जोड़े हुए यह प्रार्थना की जिसमें प्रभु प्रसन्न होकर शीघ्र कृपा करें। यथा—'रामोऽपि देवराजं तं दृष्ट्वा प्राह कृताञ्जलिम्।' (अ० रा० १३। ३७) अर्थात् तब श्रीरामजीने देवराजको हाथ जोड़े खड़े देखकर कहा] पं०—२ '*बोले दीनदयाल*' का भाव कि इन्द्रकी दीनता देखकर उसपर दया की; क्योंकि दीनदयाल हैं। पुनः, दीन वानरोंपर कृपा करनेके लिये बोले अतः दीनदयाल कहा।

प० प० प्र०—इन्द्रस्तुति ज्येष्ठा नक्षत्र है। विशाखा और अनुराधा नक्षत्र आकाशमें परस्पर संलग्नसे दीखते हैं, अतः एक ही दोहेमें विशाखाका उपसंहार और अनुराधाका उपक्रम किया। अनुराधा और ज्येष्ठा इतने समीप नहीं हैं, अतः इन दो स्तुतियोंमें दशरथागमनका वर्णन रख दिया है। अब दोनोंका साम्य देखिये—(क) अनुक्रम—यह स्तुति अठारहवीं है और ज्येष्ठा नक्षत्र भी अठारहवाँ है। (ख) नामसादृश्य—नक्षत्रका नाम ज्येष्ठा और यह स्तुति स्वर्गस्थ देवोंमें श्रेष्ठ इन्द्रकृत है अतः ज्येष्ठा नाम उचित है। (ग) ज्येष्ठामें तीन तारे हैं। स्तुतिमें सगुणकी रुचि, भक्तिकी याचना और कृपादृष्टिकी याचना तीन तारे हैं। (घ) आकार-साम्य—नक्षत्रका आकार कुण्डल-सा है। स्तुतिमें प्रथम २४ मात्राके चरणोंके ८ छंद, पश्चात् २८ मात्राके चार चरण और अन्तमें २३—२३ मात्राके दो चरण (दोहा)। इस प्रकार कुण्डलका आकार ही है। भाषण करते समय कुण्डल डोलते हैं, वैसे ही इन्द्र भी हर्षमें डोलते हैं। (ङ) नक्षत्रका देवता इन्द्र है और स्तुति इन्द्रकृत है। (च) फलश्रुतिसाम्य—नक्षत्रकी फलश्रुति है—'*हरन मोह तम दिनकर कर से।*' और '*त्रास हरन सरन सुखदायकम्*', '*द्वंद्वभंजन*', '*गत मानप्रद दुखपुंज*', यह स्तुतिकी फलश्रुति

है। मान, त्रास, द्वन्द्व आदि सब मोहरूपी तमसे पैदा होते हैं। श्रीरामचरणसरोजके प्रभावसे इनका नाश हुआ है। श्रीरामजी दिनकरकुलभूषण, भानुकुलभानु हैं। *'महामोह तमपुंज जासु बचन रबिकर निकर।'*

सुनु सुरपति कपि भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे॥ १॥
मम हित लागि तजे इन्ह प्राना। सकल जिआउ सुरेस सुजाना॥ २॥

अर्थ—हे देवराज! सुनिये, हमारे वानर-भालु, जिन्हें निशाचरोंने मारा है, वे पृथ्वीपर पड़े हैं॥ १॥ इन्होंने मेरी भलाईके लिये प्राण छोड़ दिये अर्थात् मेरी सेवामें प्राणतक निछावर कर दिये। हे सुजान सुरेश! इन सबको जिला दीजिये॥ २॥

पं०—१ *'सुरपति'* का भाव कि जैसे तुमको सुर-सेना प्रिय है वैसे ही हमको ये प्रिय हैं, जैसे सुर तुम्हारे सजातीय हैं वैसे ही ये वानर-भालु हमारे हैं, इनमें मेरा वैसा ही निजत्व है, मैं इन्हें अपना भाई-बन्धु सखा-परिवार मानता हूँ।—२—*'हमारे'* इति। भाव कि यह उत्तम पुरुषोंकी रीति है कि जिसको अपनायें उसका अन्ततक निर्वाह करें। हमने इनको अपना लिया है, इसीसे इनकी सहायता चाहते हैं। पुन: *'हमारे'*, यथा—*'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।'* अर्थात् हमारे लिये इन्होंने प्राणतक अर्पण कर दिया। मृत्युको भी कुछ न समझा, अनेक विपत्तियोंमें पड़े और उन्हें झेला* अतएव ये हमारे हैं, हमको ये सबसे प्रिय हैं। हमारा कर्तव्य है कि इनको जिलानेका प्रयत्न करें। पुन:, *'हमारे'* कहकर जनाया कि इनके समान सुकृती कोई नहीं है। ३—*'परे भूमि'* का भाव कि ये सब यहाँ रणभूमिमें पड़े हैं, तुम्हें कहीं दूर नहीं जाना है। इससे यह भी जनाया कि भगवत्कृपासे इनके शरीरोंको कुत्तों, शृगालों आदिने नहीं बिगाड़ा है।

नोट—१ *'निसिचरन्ह जे मारे'* में गूढ़ भाव यह है कि इनके जिलानेमें तुम्हारी कृतज्ञता सूचित होगी। निशाचर तुम्हारे वैरी थे। वानर-भालु उनके वैरी थे। अपने वैरीका शत्रु अपना मित्र होता है। अत: ये वानर तुम्हारे मित्र हुए और तुम्हारे कारण इनके प्राण गये। दूसरे मुझपर भी इनका एहसान है, इन्हींके बलसे मुझे श्रीजानकीजी प्राप्त हुई हैं। नोट—२ *'सुरेस सुजाना'* का भाव कि तुम देवताओंके राजा हो और जानते हो कि ये सब देवांश हैं तथा ये भी जानते हो कि ये तो जियेंगे ही, केवल तुम्हें बड़ाई मिलना है कि इन्द्रने जिला दिया।

पां०—*'सुजान'* कथनका भाव कि इन्द्रको यह शङ्का हुई कि अमृतकी वर्षासे तो राक्षस भी जी उठेंगे, उसी कारण रघुनाथजीने *'सुजान'* विशेषण देकर जना दिया कि तुम जानते हो कि राक्षस मुक्त हो गये हैं। वे पुनर्जीवित न होंगे।

सुनु खगेस प्रभु कै यह बानी। अति अगाध जानहिं मुनि ग्यानी॥ ३॥
प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई॥ ४॥
सुधा बरसि कपि भालु जिआए। हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए॥ ५॥

अर्थ—(श्रीकाकभुशुंडिजी कहते हैं) हे गरुड़! सुनो, प्रभुके ये वचन अत्यन्त गम्भीर हैं। ज्ञानी मुनि ही इन्हें जानते हैं॥ ३॥ प्रभु श्रीरामजी त्रिलोकीको मारकर (पुन:) जिला सकते हैं, (तब इन थोड़ेसे वानर-भालुओंका जीवित कर देना उनके लिये क्या बड़ी बात है?) उन्होंने यहाँ केवल इन्द्रको बड़ाई दी॥ ४॥ इन्द्रने अमृत बरसाकर वानर-भालु जिलाये। वे सब प्रसन्न होकर उठे और प्रभुके पास आये॥ ५॥

पु० रा० कु०—१ प्रभुके *'सकल जियाउ सुरेस सुजाना'* इस वाक्यमें प्राकृतत्व आता है, इसलिये उस दोषके निवारणार्थ कहते हैं कि *'प्रभु कै यह बानी।''''''''''अति अगाध'* अर्थात् इसमें गूढ़ आशय भरे हैं; इसके जाननेके अधिकारी सब नहीं हैं, 'ज्ञानी मुनि' ही हैं। यथा—'**मृता जीवन्ति पीयूषैर्न तु मोक्षगता: क्वचित्॥**' '**स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्। विषमप्यमृतायते क्वचित् क्वचिदमृतं विषमीश्वरेच्छया॥**' (रघुवंश) अर्थात् मरे हुए जीवित हो जाते हैं पर मोक्ष पाये हुए नहीं जीवित होते।

* 'मत्कृते निहतान्संख्ये वानरान् पतितान्भुवि। जीवयाशु सुधावृष्ट्या सहस्राक्ष ममाज्ञया॥' (अ० रा० १३। ३८) पुनश्च, २—'मम हेतो: पराक्रान्ता ये गता यमसादनम्। ते सर्वे जीवितं प्राप्य समुत्तिष्ठन्तु वानरा:॥' (५)

राजा अज कह रहे हैं कि यह माला यदि प्राणहारक है तो मैं अपने हृदयपर धारण करता हूँ तो मेरे प्राण क्यों नहीं लेती। कभी-कभी विष भी अमृतकी तरहसे आचरण करता है और कभी अमृत विषकी तरह—ईश्वरकी इच्छासे ही ऐसा होता है।

प० प० प्र०—वानर-भालुको जिलानेमें भगवान्‌का हेतु यह है कि सुरपति तथा समस्त विश्व जान जायँ कि मरे हुए राक्षस मुक्त हो गये और सुरेन्द्र-पद पाकर भी उसका दुःख-भोग और जन्म-मरण नहीं छूटता। *'बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर'* यह मानकर उनको मुक्ति दी।

वै०—*'अति अगाध'* का भाव कि इसका गुप्त अर्थ कोई नहीं जान सकता। वानरोंने इसी देहसे हमारे हितका कार्य किया; इससे इसी देहमें इनको प्राण पुनः दिये और निशिचरोंने इस देहसे अकाज किया, इससे इस देहमें वे प्राण नहीं पा सकते।

टिप्पणी—२ *'केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई'* इति। भाव कि जिलाने और मारनेके हेतु तो प्रभु आप ही हैं। नर-लीलाकी मर्यादासे एवं इन्द्रको बड़ाई देनेके लिये इन्द्रसे सुधावृष्टि करायी—यह एक बहाना-मात्र है।—[*'दीन्हि बड़ाई'* पदसे जनाया कि रघुनाथजीने इन्द्रको अभीष्ट वर दे दिया। इन्द्रने माँगा था कि *'मोहि जानिये निज दास।'* यह बड़ाई देकर उनको दास स्वीकार किया, यथा—*'सेवक सो जो करइ सेवकाई',* और *'संतत दासन्ह देहु बड़ाई।'* दास माना तभी बड़ाई दी।]

वि० त्रि०—*'उमा राम की भृकुटि बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥'* यही ब्रह्मका लक्षण है। **'जन्माद्यस्य यतः'** जहाँसे इस जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति भङ्ग होता है, वही ब्रह्म है। उस सर्वशक्तिमान्‌में ही यह शक्ति है। उनकी इच्छासे विष भी अमृत हो जाता है, और अमृत भी विष हो जाता है।

अतः मारना-जिलाना न विष-अमृतके हाथ है, न इन्द्रके हाथ है, यह शक्ति तो केवल परमेश्वरमें है। परंतु इन्द्र इतनी स्तुति करके सेवाके लिये आज्ञा माँगते हैं। मैंने इन्हें देवराट् बनाया है, इनको बड़ाई देना चाहिये; इसलिये कहते हैं कि मेरे कपि-भालु मारे गये हैं, उन्हें जिला दो। इन्द्रके पास एक ही उपाय है कि उनके पास अमृत है, उसीकी वर्षा कर दें, सो कर दिया, यह न सोचा कि इससे तो राक्षस भी जी उठेंगे, पर सरकार उनको पहिले ही मुक्ति दे चुके थे। बंदरोंको नहीं दिया क्योंकि उन्हें जिलाना था। वे देवताओंके अंश थे, उन्हें अपने अंशीमें मिलना था अतः निर्गलितार्थ यही निकला कि *'जिये सकल रघुपति की ईछा।'* यह इन्द्रको मिला कि उन्होंने वानरी सेनाको जिलाया।

नोट—*'सुधा बरषि'* इति। (क) यथा—**'तथेत्यमृतवृष्ट्या ताञ्जीवयामास वानरान्। ये ये मृता मृधे पूर्वं ते ते सुप्तोत्थिता इव॥ पूर्ववद्बलिना हृष्टा रामपार्श्वमुपाययुः।'** (अ० रा० १३। ३९) अर्थात् 'बहुत अच्छा' कह अमृत बरसाकर उन सब वानरोंको जीवित कर दिया। जो-जो वानर युद्धमें मारे गये थे, वे सभी सोकर उठे हुएके समान पहलेकी भाँति श्रीरामजीके पास प्रसन्न होकर चले आये।—यह सब *'हरषि उठे……'* का भाव है। प्रसन्न-प्रसन्न प्रभुके पास आये जैसे कोई सुखकी नींद पूरी होनेपर प्रसन्न उठता है। इससे जनाया कि उनको यह भी न ज्ञात हुआ कि वे रणमें मारे गये थे।

सुधा बृष्टि भै दुहुँ दल ऊपर। जिए भालु कपि नहिं रजनीचर॥ ६॥
रामाकार भए तिन्ह के मन। मुक्त भए छूटे भव* बंधन॥ ७॥
सुर अंसिक सब कपि अरु रीछा। जिए सकल रघुपति की ईछा॥ ८॥

अर्थ—(वानर और राक्षस) दोनोंही दलोंपर अमृतकी वर्षा हुई, परंतु रीछ और वानर ही जिये, निशाचर न जिये॥ ६॥ (कारण यह कि) उनके मन रामाकार होनेसे वे मोक्ष पा गये, उनका संसार-बंधन—आवागमन छूट गया॥ ७॥ परन्तु सब वानर और रीछ देवांश हैं, एतावता वे रघुनाथजीकी इच्छासे जीवित हो गये॥ ८॥

पु० रा० कु०—१ *'रामाकार भए……।',* यह निशिचरोंकी मुक्तिका हेतु कहा। आगे कपि-भालुके जीनेका हेतु कहते हैं कि *'सुर अंसिक……'।* वह हेतु यह है कि—(१) सुर मोक्ष नहीं चाहते, वे सगुणोपासक

* गए ब्रह्मपद तजि सरीर रन।—(का०)।

हैं, यथा—*'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भक्ति निज देहीं॥ हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥''''''''सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।'* (कि० २६) (२)—अंशीके अक्षत (जीवित रहते) अंशिककी गति ही नहीं होती। यह कहकर आगे मुख्य हेतु कहते हैं कि—(३) *'जिए सकल रघुपति की ईछा।'* जहाँ-जहाँसे वानर-रीछ आये, उनका पुत्र-दारादिसे वियोग हुआ, उस दुःखको दूर करनेके लिये श्रीरामजीकी इच्छा यही है कि समस्त भालु-कपि जियें और घर जाकर अपने-अपने सम्बन्धियोंसे मिलें। (४) श्रीरामजीकी इच्छासे अमृत विष होता है और विष अमृत हो जाता है, यथा—*'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥ मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥ सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जौ रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥'* (आ० २। ६-८) *'गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥ गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥'* (सुं० ५। २-३), *'ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के॥'*

टिप्पणी—२ *'सुर अंसिक'* का भाव कि ये देवताओंके रक्षक और राक्षसोंके नाशक हैं। इसीसे उन्हें *'हमारे'* कहा।

प० १ *'रामाकार भए''''''''।'* भाव कि ये श्रीरामचन्द्रजीके ही सम्मुख थे और वैरभावसे राम-राम पुकारते थे। ☞*'रामाकार'* अर्थात् भृंगी-कीटवत्। भय और वैरभावसे उन्हें सर्वत्र राम ही दीखते थे, जैसे मारीचको, यथा—*'भए मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥'* आ० २५ (७) देखिये। २—रणमें सम्मुख मरनेवालोंकी गति एक-सी है, चाहे वह राक्षस हो वा वानर। दोनों ही सूर्यमण्डलको भेदकर उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं, यह स्मृतियोंका सम्मत है। संन्यासी जो ब्रह्मरन्ध्रसे प्राणोंको निकालता है, उसकी भी यही गति होती है। अतएव यहाँ दोनों दलोंकी गति समान होनी चाहिये। जो कहा कि रामबाणसे मरनेके कारण वे मुक्त हुए, यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि इनमेंसे बहुत-से निशिचर वानरोंके हाथों मरे हैं। यदि कहें कि वे रामनाम उच्चारण करते थे अतः मुक्त हुए सो भी नहीं बनता; क्योंकि इसका कौन साक्षी है कि सबने रामनाम लिया और वानर जो रामसेवक थे एवं रामनामका माहात्म्य जानते थे और बराबर जय-जयकार बोलते थे, सो उन्होंने मरते समय नाम न लिया? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते हैं। इन सबका समाधान एकमात्र 'रघुपति-इच्छा' ही है। अन्य उत्तर सिद्धान्त नहीं है।—*'ईस रजाइ सीस सबही के'*।

मयूख—*'परे भूमि निसिचरन्ह जे मारे'* से सूचित किया कि भालु और कपि मूर्छित हैं, यदि जीव शरीरमें न होता तो शरीरका मांस ओर चाम सड़नेसे न बचता; अतः भालु और कपियोंको जिलानेकी आज्ञा दी। पुनः *'सुर अंसिक'* का संदर्भ यह है कि ये अमर (देवता) हैं। यह चारों वक्ताओंने कहा है। *'हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए',* इससे स्पष्ट होता है कि भालु और कपि मूर्छित हो सोये थे, मूर्छा छूटनेपर उठकर आये।—(पर इस भावसे *'सकल जिए रघुपति की ईछा'* का महत्त्व जाता रहता है। दूसरे बाली भी तो सुरअंशिक था, वह भी तो अमर हुआ फिर क्यों मर गया?)

पां०—राक्षसोंके मन राममय हो जानेसे परमपदकी प्राप्ति हुई जहाँसे अमृतको लौटा लानेकी शक्ति नहीं है। वानर देवांश हैं अतः वे अपने-अपने अंशियोंमें अटक गये थे, उनको अमृत फेर लाया, इन बातोंका यथार्थ निर्वाह करके गोस्वामीजी रघुपति-इच्छाको प्रदान करते हैं जो अमृतको विष और विषको अमृत कर देती है।—(यहाँ प्रथम व्याघात अलङ्कार है)।

नोट—१ वाल्मी० ३० में शार्दूलने रावणके पूछनेपर वानरवीरोंके नाम आदि बताये हैं और बताया है कि जाम्बवान् रीछराजके पुत्र हैं, नील अग्निपुत्र हैं, गज, गवाक्ष, गवय, शरभ और गन्धमादन यमके पुत्र हैं''''''''इत्यादि। इससे सूचित हुआ कि ये सब देवांशसे हैं। पुनः मानसमें भी कहा है कि—*'जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा॥ बनचर देह धरी छिति माहीं।'* (बा० १८८)।—यही भाव 'सुर-अंशिक' का है। नोट—२ वाल्मी० ७४ श्लो० ७१-७२ में लिखा है कि जाम्बवन्तके बतानेपर हनुमान्‌जी ओषधि लाये जिसको सूँघते ही सब वानर रोग-रहित हो गये और मरे हुए जी उठे; पर राक्षस कोई न जिये। उसका कारण वाल्मीकिजी यह लिखते हैं कि जबसे वानर-राक्षस-युद्ध प्रारम्भ हुआ तबसे रावणकी आज्ञासे उत्साह बढ़ानेके लिये जो राक्षस वानरोंसे मारे जाते थे वे तुरंत समुद्रमें फेंक दिये जाते

थे। यथा—'**यदाप्रभृति लङ्कायां युध्यन्ते हरिराक्षसाः। तदाप्रभृति मानार्थमाज्ञया रावणस्य च॥ ये हन्यन्ते रणे तत्र राक्षसाः कपिकुञ्जरैः। हताहतास्तु क्षिप्यन्ते सर्वे एव तु सागरे॥**' पर अन्तमें राम-रावण-युद्ध-समय जो मारे गये वे अवश्य पड़े रहे। कम-से-कम मानसका मत यही है। इसीसे यही समाधान 'रघुपति इच्छा' ही किया गया। अमृतका स्वाभाविक गुण है जिलाना। राक्षसोंपर अमृत पड़नेपर भी उनके न जीवित होनेसे स्वभावविपर्ययरूपी दोष आता है; परंतु भगवान्‌की इच्छा न होनेसे अमृतका प्रभाव भी वहाँ बाधित हो गया। सारांश यह बताया गया कि भगवदिच्छाका प्रभाव इतना प्रबल है कि उसके आगे कुछ भी असम्भव नहीं है। रघुपतिकी इच्छासे ही ऐसा हुआ, इसकी पुष्टि आगेके '*रामसरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुकुत निसाचर झारी॥*' से भी होता है।

शीला—'अमीमें सम-विषय क्यों हुआ?' उसका कारण यह है कि रघुनाथजीकी इच्छामें विष और अमृत दोनों ही बसते हैं, अतः जैसी प्रभुकी इच्छा थी वैसा ही अमृतने किया। पुनः, निशाचरोंकी देहपर वानर-भालु बालू डाल देते थे, इसीसे अमृतका स्पर्श उनकी देहसे न हुआ।—[यह दूसरा भाव मानस-कविकी उक्तिके अनुकूल नहीं है। क्योंकि आगे रघुनाथजीका वचन है कि '*हनूमान अंगद के मारे। रन महि परे निसाचर भारे॥*']

राम सरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुकुत निसाचर झारी॥ ९॥
खल मलधाम कामरत रावन। गति पाई जो मुनिबर पाव न॥ १०॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके समान कौन दीनोंका हित करनेवाला है? सारे राक्षसोंको उन्होंने मुक्त कर दिया॥ ९॥ दुष्ट पापोंका घर और कामी रावणने यह गति पायी जो मुनिश्रेष्ठ भी नहीं पाते॥ १०॥

दो०—सुमन बरषि सब सुर चले चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।
देखि सुअवसरु प्रभु पहिं आएउ संभु सुजान॥
परम प्रीति कर जोरि जुग नलिन नयन भरि बारि।
पुलकित तन गदगद गिरा बिनय करत त्रिपुरारि॥ ११३॥

अर्थ—फूलोंकी वर्षा करके सब देवता सुन्दर विमानोंपर चढ़-चढ़कर चले। तब अच्छा मौका देखकर सुजान शिवजी प्रभुके पास आये। अत्यन्त प्रेमसे दोनों हाथ जोड़कर कमलसमान नेत्रोंमें जल भरे हुए, पुलकित शरीर और गद्गद वाणीसे त्रिपुरारि श्रीशंकरजी विनती करने लगे॥ ११३॥

नोट—१ '*बरषहिं सुमन हरषि सुर॥*' (१०८) उपक्रम है और '*सुमन बरषि……।*' उपसंहार। नोट—२ '*चढ़ि चढ़ि*' से जनाया कि पूर्व विमानोंपर आये थे, फिर विमानोंसे उतरकर पृथ्वीपर प्रभुके सम्मुख जाकर स्तुति की थी। सब देवता, ब्रह्मा, दशरथजी और इन्द्र स्तुति कर-करके अब पुनः विमानोंपर चढ़कर चले। तब शिवजी आये। '*आए देव सदा स्वारथी*' उपक्रम है और '*सब सुर चले*' उपसंहार।

नोट—३ '*देखि सुअवसर*' इति। देववृन्दके चले जानेपर अब एकान्त हुआ, यही सुअवसर है। (पं० रा० कु०)। पुनः, देवता चले गये। अब अवधको प्रस्थान होनेके लिये पुष्पक आनेको है। पुष्पक आनेतक प्रभुको सावकाश है। यह जानकर आये क्योंकि सुजान हैं। यथा—'*दासी देखि सुअवसरु आई। सावकास सुनि सब सिय सासू। आएउ जनकराज रनिवासू॥*' (अ० २८१) (पं०)। पुनः '*सुअवसरु*' यह कि स्वार्थपरायण सब देवता अब चले गये, स्वार्थी कोई न रह गया, 'झीनी राहमें' दूसरोंका निर्वाह नहीं। (रा० प्र०) [स्वार्थ इससे भी विदित है कि वे फिर राज्याभिषेकमें नहीं आये। ग्रन्थकार भी उन्हें स्वार्थी कहते हैं।]

खर्रा—समरमें विजय, सीता-प्राप्ति और विभीषण-राज्य होनेपर सब देवता आये। अब प्रभुके सब दलोंके सब वानर-भालु भी जीवित हो गये, प्रभुकी सेना ज्यों-की-त्यों पूर्ववत् हो गयी, कोई त्रुटि न रह गयी। अब कुछ करना न रह गया अतः अब आये। देवताओंके चले जानेपर आये; क्योंकि देवताओंने जो पक्ष लेकर स्तुति की थी, उसका ये खण्डन करेंगे। देवताओंने ऊपरके (बाह्य) शत्रु माने हैं। उन्होंने

कहा था कि *'यह दुष्ट मारयो नाथ। भए देव सकल सनाथ॥'* और महादेवजी योगिराज हैं, ये आन्तरिक शत्रुओंको मुख्य मानते हैं, उन्हीं षड्‌रिपुओंसे रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। मोह, संशय, भ्रम, काम, क्रोध और मद जो स्तुतिमें आये हैं ये ही शत्रु हैं।

वि० त्रि०—दण्डकारण्यमें जब प्रभुको सतीके साथ शिवजीने देखा तो कुसमय जानकर चिन्हारी न की, क्योंकि *'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ।'* सरकार गुप्तरूपसे अवतीर्ण हैं, यदि मैं जाऊँगा तो भेद खुल जायगा, फिर रावणवध न हो सकेगा, क्योंकि उसने नरके हाथ मरण माँगा है अतः वह कुसमय था। अब रावणवध हो चुका तो जानेमें कोई रुकावट न रह गयी। अतः कहते हैं *'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आए संभु सुजान।'*

पं०—शम्भुको *'सुजान'* इसलिये कहा कि शंकरजीको संदेह है कि हमारे चेलेके द्वारा श्रीरघुनाथजीको बहुत क्लेश पहुँचा है; इससे हमपर उनकी नजर मोटी न पड़ गयी हो। इसीसे देवताओंके साथ जानेमें मानापमानका डर है, एकान्तमें इसका भय नहीं। इसलिये देवताओंके जानेपर आये। अथवा, यह सोचे कि ब्रह्मादिक सब दर्शन कर-कर आये, हमारे न जानेसे लोग कहेंगे कि रावणवधसे अप्रसन्न हैं इसीसे नहीं आये।—यह जानकर आये; अतः *'सुजान'* कहा। (नोट—पर ऐसी शंकाएँ और विचार भक्तशिरोमणि शंकरजीके विषयमें बहुत ही अयोग्यसे जान पड़ते हैं।)

रा० प्र०—रावणवधपर, उसपर जय पानेपर अन्तमें यह स्तुति की अतः *'त्रिपुरारि'* नाम दिया।

प० प० प्र०—त्रिपुरारिकृत स्तुति इति। १ सुरगणोंकी स्तुतिमें हर्ष अथवा प्रीतिका नाम भी नहीं है। इन्द्रने 'हर्षित मन' से स्तुति की। चतुराननने *'अति सप्रेम तन पुलकि'* स्तुति की और त्रिपुरारि *'परम प्रीति, नलिन नयन भरि बारि, पुलकित तन गदगद गिरा बिनय करत।'* उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाकर श्रीशिवजीमें प्रीतिकी परम सीमा दिखायी। इन्द्रके रोमाञ्च नहीं हुए, ब्रह्माजीमें रोमाञ्च हुए, पर शिवजीमें रोमाञ्च, अश्रु और गद्‌गद गिरा ये तीनों अनुभाव हुए। *'मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥'* यही प्रेमी भक्तका लक्षण प्रभुने श्रीमुखसे बताया है। तभी तो कहा है *'सिव सम को रघुपति ब्रत धारी'*, *'को सिव सम रामहि प्रिय भाई'* (१। १०४), *'रामभूपप्रियम्'।*

प० प० प्र०—२ इस स्तुतिमें रावणवधादिका उल्लेखतक नहीं है तब इसमें रावणके दोषोंका वर्णन कैसे मिल सकता है। रामभक्त पराया दोष नहीं वर्णन करते, यह भी यहाँ दिखाया है। दोष ही क्या गुण देखना भी अविवेक है यथा—*'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥'* (७। ४१) अतः राम भूपप्रिय शिवजी भला यह अविवेक कब कर सकते हैं।

मामभिरक्षय रघुकुल नायक। धृत बर चाप रुचिर कर सायक॥ १॥
मोह महा घन पटल प्रभंजन। संसय बिपिन अनल सुररंजन॥ २॥

अर्थ—हे रघुकुलनायक! सुन्दर हाथोंमें श्रेष्ठ धनुष और सुन्दर दीप्तिमान बाण धारण किये हुए आप मेरी रक्षा कीजिये॥ १॥ महामोहरूपी महाघोर घनसमूहके उड़ानेके लिये आप प्रचण्ड पवन हैं, संशयरूपी वनके भस्म करनेके लिये आप अग्निरूप हैं और देवताओंको आनन्द देनेवाले हैं॥ २॥

नोट—१ *'रघुकुलनायक'* का भाव कि रघुकुलमें सभी शरणागतकी रक्षा करते आये हैं और आप तो उसके 'नायक' अर्थात् सबमें शिरोमणि हैं अतः मेरी रक्षा कीजिये। रक्षा चाहते हैं अतः धनुषबाण धारण करना कहा। *'बर'* अर्थात् जिसे शत्रु काट न सके। रक्षा शत्रुसे की जाती है, तुम्हारे कौन शत्रु हैं जिनसे रक्षा करें? उसपर शत्रुओंको गिनाते हैं। मोह, संशय आदि शत्रु हैं। नोट—२ मोहको घन-पटल कहा, उसके छिन्न-भिन्न करनेके लिये प्रचण्ड वायु चाहिये जो मेघसमूहको उड़ाकर तितर-बितर कर दे। अतः *'प्रभंजन'* नाम दिया जिसका अर्थ ही है 'प्रकर्ष करके भंजन करनेवाला'। इसीसे दूसरा नाम न दिया नोट—३ मोहको *'घन पटल'* कहा क्योंकि मोहदल बड़ा भारी है, यथा—*'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।'* आ० ४३)' *'जीति मोह महिपाल दल.........'* और *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।'* संशयको वन कहा क्योंकि संशयमें पड़नेसे फिर उससे मिलना कठिन है, वह बढ़ता ही जाता है, यथा—*'अस संसय मन भयउ*

अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥' (१। ५१) यहाँ 'परंपरित रूपक' है।

प० प० प्र०—१ शंकरजीको **'मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वः संभवं शंकरम्'** कहा है वे स्वयं ही दूसरोंके मोह-महाघन पटलके प्रभंजन करनेवाले पवन हैं, तथापि वे यह प्रार्थना कर रहे हैं। इससे जनाया कि वे दीन-भाव ग्रहण किये हुए हैं। पार्वतीजीने कहा कि *'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।'* ऐसे जगद्गुरु होनेपर उनमें अहंकारका लेश नहीं है।

इससे कवि जनाते हैं कि श्रीशंकरजीको मोहमहाघनपूगपाटन शक्ति उनकी इस दीनतासे, उनकी रामभक्तिसे ही मिली। और तब उन्होंने पार्वतीजीका मोह हटा दिया जैसा श्रीपार्वतीजीके वचनसे स्पष्ट है—*'धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी।'''''''''तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह॥'* (७। ५२), *'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥'* (१। १२०) [देखिये यहाँ त्रिपुरारिने स्तुति इस विशेषणसे की और पार्वतीजीने अपना मोह दूर होनेपर *'पुरारी'* ही सम्बोधन दिया है।]

प० प० प्र०—२ *'संसय बिपिन अनल'* इति। सुतीक्ष्णजीने श्रीरामजीको *'संशय सर्प ग्रसन उरगादा'* कहा है। दोनोंमें भावसाम्य है। संशयसर्पके काटनेसे अनेक कुतर्करूपी लहरें उठती हैं, यथा—*'दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता।'* और वनमें अनेक प्रकारके कुतर्क उठते हैं जो दुःख तथा भयके देनेवाले होते हैं। शंकरजी संशयवनके विनाशक हैं, यथा—*'तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ॥'* (१। १२०। २) इस वचनमें भी शिवजीका दीन-भाव बताया।

प० प० प्र०—३ मोह समस्त व्याधियोंका मूल है, इससे सर्वप्रथम उसे कहा। आगे उसके कार्योंको कहते हैं।

अगुन सगुन गुनमंदिर सुंदर। भ्रम तम प्रबल प्रताप दिवाकर॥ ३॥
काम क्रोध मद गज पंचानन। बसहु निरंतर जन मन कानन॥ ४॥

अर्थ—आप निर्गुण हैं, सगुण हैं, सुन्दर (दिव्य) गुणोंके धाम एवं सौन्दर्यनिधान हैं। भ्रमरूपी अन्धकारके लिये आपका प्रबल प्रताप सूर्यवत् है॥ ३॥ काम, क्रोध और मदरूपी हाथियोंके लिये सिंहरूप आप मुझ दासके मनरूपी वनमें निरन्तर वास कीजिये॥ ४॥

पु० रा० कु०—१ *'अगुन सगुन''''''''''।'* इति। गुणातीत एवं निराकार होनेसे निर्गुण कहते हैं और मनुष्यावतार लेनेसे सगुण। (*'अगुन सगुन'*—विस्तृत व्याख्या बालकाण्डके दोहा २३ (१) (४) तथा ११६ (१-२) देखिये। और पूर्व इन्द्रस्तुति **'अव्यक्त जेहि श्रुति गाव'** तोमर छन्द ७ देखिये। इनसे गोस्वामीजीके अगुण-सगुण स्वरूपका भाव स्पष्ट हो जाता है)।

[*'अगुन सगुन गुनमन्दिर'*=आप अगुण और सगुणके गुणमन्दिर अर्थात् कारण हैं। अर्थात् इन दोनोंसे परे हैं। (पां०)]

टिप्पणी—२ *'भ्रमतम प्रबल प्रताप दिवाकर',* यथा—*'राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहि तहँ मोहनिसा लवलेसा॥'* निजत्वरूपास्फूर्ति माया है वही तम है जिसके नाशके लिये रामजी सूर्य हैं। टिप्पणी—३ प्रबलका भाव कि—(क) श्रीरामचन्द्रजी स्वतः प्रकाशित हैं और सूर्य श्रीरामजीसे प्रकाशित है, यथा वाल्मीकीयमें **'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यः।'** गीतामें स्पष्ट है। **'तत्तेजो विद्धि मामकम्।'** (ख)—सूर्यके प्रतापको रावणने जीता पर मोहादिको न जीत सका और रामप्रताप मोहादिका नाशक है। रावण रामप्रतापको नहीं जीत सका। पुनः, मोहने रावणको जीत लिया पर रामप्रतापको न जीत सका। अतः प्रतापको *'प्रबल'* कहा। पुनः, (ग)—सूर्यका प्रताप दिनमें ही रहता है और रामप्रताप दिनरात बराबर एकरस प्रकाशित रहता है; यहाँ रात होने ही नहीं पाती।

प० प० प्र०—शिवजीके वचन हैं—*'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तव रबिकर बचन मम'* और कविने भी कहा है—*'सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गइ सब कुतरक कै रचना॥'* (१। ११९। ७), *'भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥'*—इससे जनाया कि (क) जबतक रामस्वरूप विषयक भ्रम और भ्रमजनित कुतर्क है तबतक *'रघुपति पद प्रीती'* की प्राप्ति न होगी। (ख) जबतक

भ्रमतमका अस्तित्व है तबतक काम-क्रोध-मदरूपी गज भी संशयरूपी विपिनमें रहेंगे ही, इसमें तो आश्चर्य नहीं, पर भ्रमके नाश होनेपर भी वे जन-मन-वनमें प्रवेश कर सकते हैं। नारद-मोह-प्रसङ्ग इसका उदाहरण है। ज्ञान प्राप्त होनेपर भी ये शत्रु रहते ही हैं। यथा—*'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।'* (३। ४३। ९) अतः आगे सिंहरूपसे हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना करते हैं। (ग) शिवजी भ्रमतम दिवाकर हैं, पर *'प्रबल प्रताप दिवाकर'* नहीं हैं, ऐसा भाव ग्रहण कर *'भ्रम तम प्रबल दिवाकर'* विशेषणद्वारा स्तुति करते हैं। यह भी दीनतासूचक है।

नोट—१ यहाँतक छः शत्रु गिनाये। ये सदा हृदयमें वास करते हैं, यथा—*'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥'* (सुं० ४७) इनसे बचनेका एकमात्र उपाय यह है कि धनुर्धर राम हृदयमें वास करें। *'जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* इसीसे आदिमें *'धृत बर चाप रुचिर कर सायक'* कहकर स्तुति प्रारम्भ की और यहाँ हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना करते हैं—

नोट—२ कामादिपर गजका और मनपर वनका आरोप किया, अतः रामचन्द्रजीपर सिंहका आरोप हुआ। यथा—*'काम कोह कलिमल करिगन के। केहरिसावक जन मन बन के॥'* बा० ३२ (६) देखिये।

नोट—३ *'बसहु निरंतर'* का भाव कि जिसमें कामादि विकार कभी वहाँ आने ही न पावें। किञ्चित् भी कालके लिये यदि आप हृदयसे चले जायँगे तो ये तुरंत ही उसमें प्रवेश कर जायँगे।

बिषय मनोरथ पुंज कंज बन। प्रबल तुषार उदार पार मन॥ ५॥
भव बारिधि मंदर परमंदर। बारय तारय संसृति दुस्तर॥ ६॥

अर्थ—विषयवासनाओंके समूहरूपी कमलवनके लिये आप प्रबल पालारूप हैं। आप उदार (दानी) हैं और मनसे परे हैं॥ ५॥ भवसागर मन्थनके लिये आप मन्दर हैं, हमारे परम भयको निवारण कीजिये और दुस्तर संसार-सागरसे पार कीजिये॥ ६॥

प० प० प्र०—१ *'बिषय मनोरथ.........'* इति। विषय मनोरथोंका वारापार नहीं, मानस रोगोंमेंसे इनको शूल कहा है। यथा—*'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥'* जबतक कामादिका निवास है, जबतक मोह बना है, तबतक विषय मनोरथ पुञ्जरूपी कमलवनकी वृद्धि ही होगी। मिलान कीजिये—*'बहु बासना मसक हिम रासिहि।'* (७। ३०। ९) श्रीरामजीको प्रबल तुषार कहा, इसी तरह श्रीसीताजीको शीतनिशा सम कहा है। यथा—*'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥'* (५। ३६। ९) श्रीरामजी विषयमनोरथ कंज वनके लिये तुषार हैं पर संत कंजवनके लिये रवि हैं। इससे सूचित हुआ कि विषय मनोरथोंका जबतक नाश न होगा तबतक कोई संत नहीं हो सकता।

'भव बारिधि.....' इति। बालकाण्डमें ब्रह्माजीने भी स्तुतिमें कहा है—*'भवबारिधिमंदर सब बिधि सुंदर गुन मंदिर सुख पुंजा'*। मन्दराचलके मथनेपर समुद्रसे अमृत निकला। और यहाँ भववारिधि-मन्थनसे रामप्रेमामृतका निकलना लक्षित है तथा श्रीरामनामामृतका भाव कि अपने चरणोंमें प्रगाढ़ प्रेम देकर मेरे परम भयको दूर कीजिये और भव-संसृति जन्ममरणरूपी दुस्तर सागरसे पार कीजिये। [पुनः प्रथम भववारिधि मंदर सरकारका विशेषण देकर तब *'तारय संसृति दुस्तर'* कहा। भाव कि भवपार करनेको आप समर्थ हैं अतः मैं यह वर माँगता हूँ।]

टिप्पणी—*'भवबारिधि मंदर'*, यथा—'**भवाम्बुनाथ मंदरं।**' (३। ४) देखिये। इस चौपाईमें षट्पदीका सम्मत दर्शित होता है। मिलान कीजिये—'**अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्। भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥**' (१), '.........**दामोदरगुणमन्दिरसुन्दरवदनारविन्द गोविन्द। भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे॥**' (६)

नोट—*'परमंदर*=परमं+दर=परम डर, परम भय। 'दर' संस्कृत शब्द है इसका अर्थ है 'डर'। कुछ लोगोंने इसका अर्थ यह किया है कि—'आप मंदरसे भी बढ़कर अप्राकृत मंदर हैं'।

स्याम गात राजीवबिलोचन। दीनबंधु प्रनतारतिमोचन॥ ७॥
अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥ ८॥
मुनिरंजन महिमंडल मंडन। तुलसिदास प्रभु त्रास बिखंडन॥ ९॥

अर्थ—हे दीनबन्धु! आपका श्यामशरीर और राजीव (कमल दलवत् विशाल) नेत्र शरणागतके दुःखके छुड़ानेवाले हैं॥ ७॥ हे राजा रामचन्द्रजी! आप छोटे भाई लक्ष्मण और श्रीजानकीसहित मेरे हृदयमें निरन्तर निवास कीजिये॥ ८॥ आप मुनियोंको आनन्द देनेवाले, पृथ्वीमण्डलके भूषण, तुलसीदासके प्रभु और भयके नाशक हैं॥ ९॥

नोट—१ श्यामगात एवं राजीवविलोचन ये दोनों ही आर्तिहरण हैं, यथा—'*भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामलगात प्रनत भय मोचन*'—सुं० ४५ (४) देखिये। नोट—२ '*अनुज जानकी सहित निरंतर*.........' इति। यहाँ भी '*निरंतर*' पद दिया क्योंकि हृदयसे आप हटे नहीं कि कामादि रिपु अपना दखल जमा लेते हैं। '*रामनृप*' को बसाना चाहते हैं, उसीसे आगे तिलकके समय राज्यसिंहासनासीन होनेपर पुनः वर माँगने जायँगे।

रा० प्र०—रक्षाकी प्रार्थना आदिसे ही करते आये हैं अतः यहाँ '*नृप*' पद दिया। जो मनुष्योंका पालन करे वह नृप है। राजा प्रजाकी रक्षा करते ही हैं। पुनः, नृपसे सनातन द्विभुजरूपका निवास माँगा।

वीर—कहाँ त्रेतायुगमें शिवजीका स्तुति करना और कहाँ लाखों वर्ष पीछे कलियुगमें गुसाईंजीकी उत्पत्ति, फिर शिवजीके मुखसे तुलसीदासके स्वामीका सम्बोधन दिलाना अयुक्त-सा प्रतीत होता है। पर जहाँ कवि लोग भावी अर्थको प्रत्यक्षकी तरह वर्णन करते हैं वह भाविक अलङ्कार माना जाता है। यहाँ वही अलङ्कार है इससे सन्देहका कोई कारण नहीं है।

नोट—३ महान् कविकी शैली है कि भाविक-अलङ्कारसे अपना सम्बन्ध सरकारके परम भक्तोंद्वारा दृढ़ कराते हैं। अनेक स्थलोंमें मानसमें ही ऐसा प्रयोग हुआ है। यथा—'*तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पार उतारिहउँ॥*' (अ० १००), '*सकल तनय चिरजीवहु तुलसिदास के ईस।*' (१। १९६), '*तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।*' (अ० ७५)

श० सु०—तुलसीदासके स्वामी और अभय दान देनेवाले ये पद गोसाईंजीने प्रेममें मग्न हो अपने लिये लिखे हैं।

दो०—नाथ जबहिं कोसलपुरी होइहि तिलक तुम्हार।
कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार॥ ११४॥

अर्थ—हे नाथ! हे दयासागर! अयोध्यापुरीमें जब आपका तिलक (राज्याभिषेक) होगा, तब मैं आपके उदार चरित देखने आऊँगा॥ ११४॥

नोट—दोहेसे मिलता हुआ श्लोक अ० रा० में यह है—'**ततः प्रोवाच भगवान् भवान्या सहितो भवः। रामं कमलपत्राक्षं विमानस्थो नभस्थले॥ आगमिष्याम्ययोध्यायां द्रष्टुं त्वां राज्यसत्कृतम्॥**' (१३। ३३-३४) अर्थात् तदनन्तर आकाशमें विमानपर बैठे हुए भवानीसहित भगवान् शङ्करने कमलदललोचन श्रीरामजीसे कहा—'मैं आपको राज्याभिषिक्त होते देखनेके लिये अयोध्यापुरीमें आऊँगा।'

पं०—'*उदार*' विशेषण दिया क्योंकि उस समय भक्तिका वरदान माँगने जायँगे—यथा—'*बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥*' (उ० १४)

वि० त्रि०—कोसलपुरीमें जब रामजीका तिलक होता है, उस झाँकीके सच्चे रसिक शिवजी हैं (यथा—'*वह सोभा समाज सुख कहत न बनै खगेस। बरनहिं सारद सेष श्रुति सो रस जान महेस॥*' अतः उस झाँकीके दर्शनकी आज्ञा इसी समय ले रखते हैं। उस समय सुखकी वर्षा होती है। यथा—'*चढ़ि बिमान आये सब सुर देखन सुखकंद।*' सुखकन्दका अर्थ ही 'सुखकी वर्षा करनेवाला' है। इसलिये उस चरितको 'उदार'

कहा है। उस चरितके गानसे जगत्का कल्याण होता है, यथा—*'सुनु खगपति यह कथा पावनी। त्रिबिधि ताप भव भय दावनी॥ महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका॥ जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥ सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंत काल रघुपति पुर जाहीं॥ सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥'*

प० प० प्र०—इस स्तुतिका वैशिष्ट्य—(१) इसमें किसीके गुण वा दोषोंका वर्णन नहीं है। (२) नौ अर्धालियोंसे इसकी अखण्डता और निर्विकारता सूचित की और दोहोंकी दो पंक्तियाँ मिलाकर रुद्रोंकी एकादश संख्या सूचित की। शिव-विवाहमें ग्यारह छन्द हैं और पार्वतीतपके वर्षोंमें भी ग्यारह संख्याकी ही विशेषता है। उत्तरकाण्डमें भी शिवस्तुतिमें दस छन्द और एक दोहा मिलकर ग्यारह ही हैं। (३) शिवजी कैलासनिवासी हैं। कैलास पर्वत है और घनपटल प्रथम गिरिशिखरोंपर ही एकत्र होते हैं, अतः वह उपमा प्रथम दी। (४) पर्वतोंपर विपिन होते हैं और कभी-कभी उनको दावाग्नि जला देती है। अतः दूसरी उपमा *'बिपिन अनल'* की दी। (५) पर्वतकी कन्दराओंमें प्रबल अन्धकार रहता है, अतः प्रबल तम प्रतापदिवाकरकी उपमा दी। पर्वतस्थित वनोंमें हाथी और सिंह भी रहते हैं और उनके दर्रों तालाबोंमें कमल होते हैं और हिम-वर्षा भी होती है, अतः ये उपमाएँ दी गयीं। (६) मन्दरकी सहायतासे क्षीरसागर मथा गया। अतः उसकी उपमा दी।—इस प्रकार यहाँतक पर्वतसम्बन्धी ही उपमाएँ दी गयी हैं। उपक्रम पर्वतको ध्वनित करके किया और पर्वतसम्बन्धी उपमाओंका उपसंहार छठी अर्धालीमें किया गया।

☞ जिनके अवतार श्रीहनुमान्जी हैं वे शिवजी ही स्वयं जब मोहादिके विनाश और श्रीरामप्रेमकी याचना श्रीरामजीसे कर रहे हैं तब विषयी मानव जीवोंका क्या कर्त्तव्य है इसका विचार करके श्रीरामजीकी शरण लेनी चाहिये—यह उपदेश हमें इससे मिलता है—*'रामहिं भजहिं तात सिव धाता। नर पामर कर केतिक बाता॥'*

प० प० प्र०—शिवस्तुति मूलनक्षत्र है। ज्येष्ठा और मूल ये दो नक्षत्र परस्पर संलग्न ही देख पड़ते हैं। वैसे ही ***'सुमन बरषि सब सुर चले चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।'*** इस पूर्वार्धमें ज्येष्ठा स्तुतिकर्ता सुर चले और उत्तरार्धमें शम्भु-सुजान आये। इस प्रकार मूलनक्षत्रस्तुतिका उपक्रम किया गया। अब स्तुति और मूलनक्षत्रका साम्य देखिये—(१) अनुक्रम—मूल उन्नीसवाँ नक्षत्र है और यह स्तुति भी उन्नीसवीं है। (२) नाम साम्य—नक्षत्रका नाम मूल और शिवजी रामभक्तोंमें मूल (आद्य, अग्रगण्य) हैं। मानसके मूल कवि भी श्रीशिवजी ही हैं—***'रचि महेस निज मानस राखा।'*** ***'मूलं धर्मतरोः'*** भी शिवजी हैं। वे ही स्तुतिकर्ता हैं और इस स्तुतिका प्रतिपाद्य विषय भी समस्त दुःखों और संसृतिके मूल मोह तथा उसके कार्यका विनाश है। (३) तारा साम्य—मूलनक्षत्रमें ११ तारे हैं, जिनमेंसे आठवाँ तारा बहुत अस्पष्ट है। स्तुतिमें भी प्रभंजन, अनल, मन्दिर, दिवाकर, पंचानन, तुषार, मंदर, ***'तारय संसृति दुस्तर'*** (इससे 'नाविक' लक्षित है जैसे आठवाँ तारा अस्पष्ट है), राजीव, मंडन और सिन्धु (कृपासिन्धु) ग्यारह हैं। तारोंकी संख्या ११ और शिवरूप रुद्र भी ११। (४) रूप-आकार-साम्य—नक्षत्रका रूप सिंहका-सा है। स्तुतिमें 'पंचानन' विद्यमान है और ***'कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार'*** यह सिंहका पुच्छ है। (५) देवता साम्य—नक्षत्र देवता निर्ऋति है। निर्ऋतिके पुत्र ही नैर्ऋत (राक्षस) कहे जाते हैं। निर्ऋति अशुभ। मोह और मोहजनित संसृति तथा कामादि सब निर्ऋतिका परिवार ही है। मोहरूपी निर्ऋतिका नाश इसमें लक्षित है। (६) फलश्रुति—***'सेवक सालिपाल जलधर से'*** यह फलश्रुति है। स्तुतिमें ***'बसहु निरंतर जन मन कानन'*** है। श्रीरामजी जन (सेवक) रूपी शालिके पालक हैं, काम क्रोधादिका विनाश करते और मोह तथा उसके कार्यों संशय आदिसे रक्षा करते हैं। जलधरके समान उदार हैं। यहाँ श्रीशिवजीरूपी सेवक शालि ***'मामभिरक्षय'*** ऐसी प्रार्थना करते ही हैं।

'सुरन्हि कीन्हि अस्तुति'-प्रसंग समाप्त हुआ।

'पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता………।' प्रकरण

करि बिनती जब संभु सिधाए। तब प्रभु निकट बिभीषन आए॥ १॥
नाइ चरन सिरु कह मृदु बानी। बिनय सुनहु प्रभु सारँगपानी॥ २॥
सकुल सदल प्रभु रावन मार्‍यौ। पावन जसु त्रिभुवन बिस्तार्‍यौ॥ ३॥
दीन मलीन हीन मति जाती। मो पर कृपा कीन्ह बहु भाँती॥ ४॥

अर्थ—जब विनती करके शिवजी चले गये तब विभीषणजी प्रभुके पास आये॥ १॥ चरणोंमें सिर नवाकर कोमल वचन बोले। हे शार्ङ्गपाणि (शार्ङ्गधनुषबाण धारण करनेवाले) प्रभु! मेरी विनती सुनिये॥ २॥ हे प्रभो! आपने कुल और सेनासहित रावणका वध किया और तीनों लोकोंमें पवित्र यश फैलाया॥ ३॥ मुझ दीन (गरीब), मलिन (पापी), बुद्धिहीन और जातिहीन (अधम जातिवाला) पर बहुत प्रकारसे कृपा की॥ ४॥

नोट—१ *'जब संभु सिधाए'।* अर्थात् जब सबसे प्रभुको अवकाश मिला, बाहरका कोई रह न गया, तब *'प्रभु निकट'* शब्दोंसे जनाया कि राजा होनेपर भी वे सेवक-भाव ग्रहण किये हुए हैं। ये कविके वचन हैं। विभीषणजीके वचनमें यह भाव चरितार्थ भी हुआ है। वे प्रभु सम्बोधन करके कहते हैं—*'सकुल सदल प्रभु रावन मार्‍यौ'*, *'बिनय सुनहु प्रभु'*, *'अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै।'* तीन बार *'प्रभु'* ही कहकर दृढ़ सेवक भाव जनाया और *'जन'* भी कहा। सुग्रीव तो राज्य पाकर फिर अपनेसे पास भी न आये थे। *'नाइ चरन सिरु'*—यह भी दास्य और विनीत भावको ही पुष्ट करता है।

नोट—२ *'सकुल सदल………।'* इति। भाव कि यही अवतारका हेतु था। जिस लिये अवतार लिया वह कार्य पूर्ण कर चुके। दुष्टोंका संहार और जगत्में निर्मल यशका विस्तार करना, ये दोनों अवतारके हेतु हैं। यथा—*'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजनम कर हेतु॥'* (१। १२१) सो ये दोनों कार्य सम्पन्न हो गये।

नोट—३ *'मोपर कृपा कीन्हि बहु भाँती।'* भाव कि रावणवधसे मुनिविप्रादिका हित हुआ, यशसे भक्तोंका हित होगा, यथा—*'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं'*, और मुझपर तो एक दो भाँतिसे नहीं वरन् बहुत प्रकारसे कृपा की है। पुनः, *'बहु भाँती'* यह कि शरणमें लिया, तिलक किया, सखा बनाया, मन्त्री बनाया, शरण लेनेपर रावणसे मेरी रक्षा भी की, मेरे शत्रु भाईको मारकर मुझे राजा बनाया, धर्मोपदेश देते रहे, इत्यादि। निशिचरीके गर्भसे उत्पत्ति होनेसे *'जातिहीन'* कहा। यहाँ उत्तरोत्तर अपना अपकर्ष कहा है। यह 'सार' अलङ्कार है।

अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै। मज्जनु करिय समर श्रम छीजै॥ ५॥
देखि कोस मंदिर संपदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहुँ मुदा॥ ६॥

अर्थ—हे प्रभो! अब दासका घर पवित्र कीजिये, और स्नान कीजिये जिससे युद्धकी थकावट दूर हो॥ ५॥ फिर हे कृपालो! खजाना, महल और सम्पत्ति देखकर उसे प्रसन्नतापूर्वक वानरोंको दीजिये॥ ६॥

नोट—१ (क) *'अब'* का भाव कि और कुछ कार्य आपको अब करना शेष नहीं रह गया, दूसरे, बहुत भाँति कृपा कर चुके अब यही एक प्रकारकी कृपा और करनी रह गयी है सो इसे भी कर दीजिये। जन-गृह पुनीत करनेमें भाव कि आपका चरणरज पड़नेसे लंकापुरी जो पापमयी थी पवित्र हो जायगी। *'प्रभु'* सम्बोधनका भाव कि मैं सेवक हूँ आपके वहाँ पधारनेसे वह गृह मंगल-भवन हो जायगा। यथा *'सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥'* (ख) चौदह वर्षकी अवधि पूरी हुई यह अनुमानकर विभीषणजी नगरमें चलकर घर पवित्र करनेकी प्रार्थना करते हैं। रा० प्र० (ग) *'मज्जन करिय………'* इति। स्नानसे थकावट दूर होती है, यथा—*'मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाइ।'* (१। १५८),

'गै श्रम सकल सुखी नृप भएऊ।', 'मज्जन कीन्ह परम सुख पावा।' (आ० ४१। १), अतः पहले स्नान करना लिखा तब श्रम दूर होना। श्रम दूर होनेपर सावधान होनेसे कोषादिकी देख-रेख हो सकेगी, अतः इसे पीछे कहा। (घ) 'मज्जन करिये' से जनाया कि स्नानका जल, तेल-फुलेल, उबटनादि, सुगन्धद्रव्य, वस्त्र, भूषण, चन्दन, मालाएँ आदि और शृङ्गारकलामें कुशल स्त्रियाँ विधिपूर्वक स्नान करानेके लिये वहाँ उपस्थित थीं जैसा कि वाल्मी० १२१ में कहा है। यथा '**स्नानानि चाङ्गरागाणि वस्त्राण्याभरणानि च। चन्दनानि च दिव्यानि माल्यानि विविधानि च॥ अलङ्कारविदश्चैमा नार्यः पद्मनिभेक्षणाः। उपस्थितास्त्वां विधिवत्स्नापयिष्यन्ति राघव॥ प्रतिगृह्णीष्व तत्सर्वं मदनुग्रहकाम्यया।**' पुनः, 'मज्जन करिये' में दास्यभावानुसार यह भी गुप्त आशय है कि मैं चरणोदक पाकर घर-परिवार-सहित पवित्र और भवपार हो जाऊँगा। यथा *'पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार। पितर पारु करि……॥'* (अ० १०१)

नोट—२ *'देखि कोष……।'* से जनाया कि यह सब आपका है, चाहे जिसे दें, देनेमें संकोच न करें। दूसरे, वानरोंने इतना परिश्रम किया, इनको लूट भी न मिली, विजयशील सेनाका भाग 'लूट' है, अतः आप इन्हें दें।

पंजाबीजी लिखते हैं कि कोष, मन्दिर, सम्पदा, देनेको कहा क्योंकि वानरोंने बड़े पराक्रम किये हैं। मन्दिर देनेमें विभीषणका भाव यह है कि इनका लंकामें निवास कराइये। और प्र० स्वामीका मत है कि विभीषणजी जानते हैं कि श्रीरामजीने रामेश्वर महादेवकी स्थापना और पूजा की है। अतः 'मन्दिर' शब्दसे सूचित करते हैं कि लंकामें शिवमन्दिर है, वहाँ दर्शन करके पूजन कीजिये। इस कथनमें गुप्त आशय यह है कि शिवपूजनके निमित्तसे लंकामें आवेंगे। इसीसे प्रथम स्नान करनेको कहा। मेरी समझमें कोष और सम्पदाके बीचमें 'मन्दिर' शब्द रखने और उनको वानरोंको देनेकी प्रार्थनासे मन्दिरका अर्थ यहाँ भवन ही है। लंकामें विभीषणका हरिमन्दिर भी है और उसका उल्लेख मानसमें है ही। अन्य रामायणोंमें देवीके मन्दिरका भी होना वहाँ पाया जाता है और शिवजी तो स्वयं साक्षात् पुजानेके लिये आते थे। फिर गोस्वामीजी तो लंकाके घर-घरको 'मन्दिर' कह चुके हैं, यथा—*'मंदिर मंदिर प्रति कर सोधा'* इत्यादि।

सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥ ७॥

सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भए द्वौ नयन बिसाला॥ ८॥

अर्थ—हे नाथ! मुझे सब प्रकारसे अपना लीजिये फिर मुझे भी साथ लेकर अवधपुरीको जाइये॥ ७॥ विभीषणजीके कोमल वचन सुनते ही दीनदयाल रघुनाथजीके दोनों विशाल नेत्रोंमें जल भर आया॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सब बिधि'*। भाव कि—(क) हमारी देह तो अपनाई ही है अब सब वस्तु भी अंगीकार कीजिये। पुनः, (ख)—तात्पर्य यह है कि आपने मुझे सब प्रकार अपनाया, केवल एक प्रकार रह गया; वह यह कि मेरे 'गृहको पवित्र करना' बाकी है। उसे भी पवित्र कीजिये। ऐसा करनेसे *'सब बिधि'* अपनाना पूरा हो जायगा। ऐसा करनेपर मैं आपकी पूर्ण कृपा अपने ऊपर समझूँगा। (ग)—मित्रताका लक्षण है कि मित्रके घर जाय, मित्रको अपने घर ले जाय; वही बात वे यहाँ कहते हैं कि *'सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥'* (यहाँतक जितनी प्रार्थना की गयी वह सब सेवक-स्वामि-भावसे। इसीसे बराबर *'प्रभु'* और यहाँ *'नाथ'* सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है। अतः यह भाव शिथिल-सा जान पड़ता है। हाँ, यह आशय सम्भवतः पण्डितजीका हो कि मैं तो सदा सेवक ही हूँ पर आप सखा मानते हैं तो मित्रका लक्षण यह है, इस रीतिसे भी अपनाइये फिर घर पवित्र करनेकी प्रार्थना दास-भावमें ही समुचित है। सखा तो ऐसे शब्द नहीं कहेंगे वरंच वे तो *'निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥'* वे *'गृह पुनीत प्रभु कीजै'* ऐसा नहीं कहते।)

नोट—१ ☞ मिलान कीजिये '**अर्चितः सर्वकामैस्त्वं ततो राम गमिष्यसि॥ प्रीतियुक्तस्य विहितां ससैन्यः ससुहृद्गणः। सत्क्रियां राम मे तावद् गृहाण त्वं मयोद्यताम्॥ प्रणयाद् बहुमानाच्च सौहार्देन च राघव। प्रसादयामि प्रेष्योऽहं न खल्वाज्ञापयामि ते॥**' (वाल्मी० १२३। १३—१५) अर्थात् मेरे द्वारा समस्त सैन्य और सुहृदोंसहित

आप भूषणादिसे सत्कारित हों और मुझपर प्रसन्न होकर श्रीअयोध्याजी चले जाइयेगा। मैं प्रीतिपूर्वक बहुमानपुरस्सर एवं सौहार्दवश आपका विधिवत् सत्कार करना चाहता हूँ, आप सत्कारके लिये एकत्र की हुई सामग्रीको ग्रहण करें। मेरी तो यह प्रार्थना है क्योंकि मैं आपका दास हूँ, निश्चय ही मैं आपको आज्ञा नहीं दे सकता।

टिप्पणी—२ *'सजल भए द्वौ नयन"""""।'* इति। भरतजीका दुःख स्मरण करके और समझकर दुःखी हुए; यही बात आगे कहते हैं। उन्होंने सोचा कि भरतजी हमारे निमित्त अति तीव्र तपोव्रत धारण किये हैं उनके बिना हमको स्नानादिक उचित नहीं। दोहा ११५ देखिये। यथा **'स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः। सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः॥ तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्। न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च॥'** (वाल्मी० १२१। ५-६) अर्थात् सुख पानेके योग्य, धर्मात्मा, सुकुमार, महाबाहु, सत्यवक्ता, राजकुमार भरत मेरे लिये कष्ट पा रहा है। उस धर्मात्माको देखे बिना स्नान करना, वस्त्राभरण धारण करना उचित नहीं।

पं०—१ यहाँ नेत्रोंको विशाल विशेषण देनेका भाव क्या है? उत्तर—यहाँ विशालता कथन बड़ी लज्जाके सम्बन्धसे है। विभीषणके दोनों वचन सुन नेत्रोंमें जल भर आनेका कारण यह है कि इधर तो विभीषणकी प्रीति देख उनके वचन कैसे फेरें, और उधर पिताकी आज्ञासे नगरमें जा नहीं सकते। अवधि बिताकर नगरमें जायँ तो उधर भरतजीका अटलप्रेम और उनकी दशा विचारकर यहाँ अवधि बिता नहीं सकते। क्योंकि अवधि व्यतीत होनेपर वे एवं सब परिवार प्राण ही त्याग देगा। इस असमंजससे नेत्र सजल हो आये।

नोट—२ जो वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने उत्तरमें कहा है—**'पूजितोऽहं त्वया सौम्य साचिव्येन परन्तप। सर्वात्मना च चेष्टाभिः सौहृदेनोत्तमेन च॥'** हे सौम्य! हे परन्तप! तुम्हारी सहायतासे ही मेरा सत्कार हो चुका। इसके अतिरिक्त पौरुष और उत्तम सौहार्दयुक्त व्यवहारसे भी तुमने मेरा सब प्रकारसे बड़ा सत्कार किया है। तथा **'अनुजानीहि मां सौम्य पूजितोऽस्मि विभीषण। मन्युर्न खलु कर्तव्यस्त्वरितं त्वानुमानये॥'** मैं तुमसे सत्कृत हो चुका। भरतके मिलनेके लिये आतुर हूँ। अतः मेरे तुरंत जानेसे तुम दुःखी न हो। मुझे जानेकी अनुमति दो। इन वचनोंसे मानसके *'सजल भए द्वौ नयन बिसाला।'* तथा आगेके *'तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन'* ये वचन कहीं अधिक भावगर्भित हैं, यह पाठक स्वयं देख सकते हैं।

दो०—तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥ ११५ क॥
तापस बेष गात कृत जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरौं तोहि॥ ११५ ख॥

अर्थ—हे भाई! सुनो, तुम्हारा खजाना और घर सब मेरा ही है, मेरा वचन सब सत्य है। (एवं मेरा यह सत्य वचन सुनो) भरतजीकी दशा याद करते ही मुझे पल-पल कल्पके समान बीत रहा है। तपस्वी वेष बनाये दुर्बल शरीरसे वे निरन्तर मुझे (बिना क्षणमात्रका बीच पड़े) जप रहे हैं। अब तो वह उपाय करो, जिससे मैं उनको शीघ्र देखूँ। हे सखे! मैं तुम्हारी विनती करता हूँ। (तुम्हारा मुझपर बड़ा एहसान होगा। भाव यह कि अब मुझे यहाँ रोको नहीं वरन् शीघ्र कल ही वहाँतक पहुँचा देनेवाली सवारीपर मुझे वहाँ पहुँचा दो)॥ ११५ क-ख॥

नोट—१ *'तोर कोस गृह मोर सब'* यह विभीषणजीके *'देखि कोष मंदिर संपदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहँ मुदा॥'* का उत्तर है। यह मित्रधर्म दिखाया, मित्रको मित्रका धन और भवन अपना समझना चाहिये। यथा—*'देत लेत मन संक न धरई'*—(कि० ६)।

नोट—२ विभीषणने अपनेको दास कहा, यथा—*'अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै', 'सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ'।* उसपर प्रभु उनको *'भ्राता'* और *'सखा'* सम्बोधन करते हैं और कहते हैं कि *'तोर*

कोस गृह मोर सब' अर्थात् तुम तो मेरे मित्र हो, भाई हो, हममें-तुममें भेद कहाँ? तुम्हारे पास यह सब है तो समझ लो कि हमारे ही पास है।

नोट—३ *'भरत दसा सुमिरत'* कहकर फिर उनकी दशा कुछ वर्णन करते हैं कि हमारे वियोगमें वे भी जटाएँ धारण किये तपस्वी-वेषसे नियमपूर्वक रह रहे हैं, तपसे शरीरको गला डाला है, और मेरा नाम जपा करता है, यथा—*'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥ लषन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥', 'जटा जूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साथरी सवाँरी॥', 'असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥ भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तृन तूरी॥'*

प० पु० पातालखण्डमें शेषजीने वात्स्यायन मुनिसे श्रीभरतजीकी दशा इस प्रकार वर्णन की है कि—वे भाईके वियोगजनित अनेकों दुःखमय चिह्नोंको धारण करके धर्मका पालन करते हुए नन्दिग्राममें पृथ्वीमें गड्ढा खोदकर उसीमें रहते थे। ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक मस्तकपर जटा और शरीरमें वल्कल वस्त्र धारण किये रहते थे। उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। वे निरन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी चर्चा करते हुए दुःखसे आतुर रहते थे। अन्नके नामपर तो वे जौ भी नहीं ग्रहण करते थे तथा पानी भी बारम्बार नहीं पीते थे। सूर्योदय होनेपर वे सूर्यको प्रणाम करके कहते 'जगत्को नेत्र प्रदान करनेवाले भगवान् सूर्य! आप मेरे महान् पापको हर लीजिये। मेरे ही कारण जगत्पूज्य श्रीरामचन्द्रजीको वन जाना पड़ा। जो श्रीसीताजी फूलकी शय्यापर पुष्पोंके डण्ठलके स्पर्शसे भी व्याकुल हो उठती थीं और जो कभी सूर्यकी धूपमें घरसे बाहर नहीं निकलीं, वे ही पतिव्रता श्रीजनककिशोरी आज मेरे कारण वनोंमें भटक रही हैं। जिनके ऊपर कभी राजाओंकी भी दृष्टि नहीं पड़ी उन्हीं श्रीसीताजीको आज किरात लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। जो यहाँ पकवानोंको भोजनके लिये आग्रह करनेपर नहीं खाना चाहती थीं, वे ही जानकीजी आज जङ्गली फलोंके लिये स्वयं याचना करती होंगी।' जब विद्वान् मन्त्री उनको सान्त्वना देते हुए कुछ कहते तो वे इस प्रकार उत्तर देते थे—'अमात्यगण! मुझ भाग्यहीनसे आप लोग क्यों बातचीत करते हैं? मैं संसारके सब लोगोंसे अधम हूँ; क्योंकि मेरे ही कारण मेरे बड़े भाई आज वनमें जाकर कष्ट उठा रहे हैं। मुझ अभागेके लिये अपने पापोंके प्रायश्चित्त करनेका यह अवसर प्राप्त हुआ है, अतः मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका निरन्तर आदरपूर्वक स्मरण करते हुए अपने दोषोंका मार्जन करूँगा। इस जगत्में माता सुमित्रा ही धन्य हैं जो वीर पुत्र लक्ष्मणकी जननी हैं और जिनके पुत्र लक्ष्मण सदा श्रीरामजीके चरणोंकी सेवामें रहते हैं।' भ्रातृवत्सल भरत नन्दिग्राममें रहकर उच्चस्वरसे इस प्रकार विलाप किया करते थे।

नोट—४ *'तापस बेष'*'''''''''—ऐसा ही अ० रा० में कहा है। यथा—**'सुकुमारोऽतिभक्तो मे भरतो मामवेक्षते। जटावल्कलधारी स शब्दब्रह्मसमाहितः॥'** (१३। ४३) अर्थात् मेरा भाई भरत अति सुकुमार और मेरा भक्त है, वह जटावल्कल धारण किये भगवन्नाममें मेरी बाट देखता होगा। पर मानसके *'निरंतर मोहि'* को **'शब्दब्रह्मसमाहितः'** से मिलान करके तो देखिये।

दो०—बीते अवधि जाउ जौं* जिअत न पावौं बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति† प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥
करेहु कल्प भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु‡ जहाँ संत सब जाहिं॥ ११५॥

अर्थ—यदि अवधिके बीत जानेपर जाऊँगा तो अपने वीर भाईको जीता न पाऊँगा। छोटे भाई श्रीभरतजीकी प्रीतिका स्मरण करके प्रभुका शरीर बारम्बार पुलकित हो रहा है। श्रीरामजीने कहा कि हे विभीषण! तुम

---

* जौं जैहों बीते अवधि। † प्रीति भरत कै समुझि। ‡ सिधाइहहु—(का)।

कल्पभर राज्य करना और मनमें मेरा स्मरण करते रहना। फिर तुम मेरे धामको पाओगे जहाँ सब संत जाते हैं॥ ११५॥

पु० रा० कु०—*'बीते अवधि जाउ जौं……।'* तात्पर्य कि श्रीभरतजी शपथ कर चुके हैं, यथा—*'पुलक सरीर नीर भरि लोचन कहत प्रेमपन कीन्हें॥ तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभु-चरन-सरोज-सपथ जीवत परिजनहिं न पैहौ॥'* (गी० अ० ७६। ३-४) पुन: यथा—**'चतुर्दशे हि संपूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम। न पश्यामि यदि त्वां च प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥'** (वाल्मी० अ०) [*'सुमिरत अनुज प्रीति……सरीर'* इति। चित्रकूटमें भरतजीके आनेके पूर्व भी श्रीरामजीका उनपर ऐसा ही अनुराग था, श्रीभरद्वाजजी इसके साक्षी हैं। उन्होंने कहा है *'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥ लषन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥ जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा॥'* (२। २०८) और प्रभुने स्वयं उनके सम्बन्धमें कहा है कि *'सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना।'* और *'कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥'* (२। २३२) और चित्रकूट दरबारसे तो उनका प्रेम सभीको प्रकट हो गया। उसपर भी वे अब कठिन नियम व्रत प्रभुके लिये कर रहे हैं यह जानकर प्रभु क्योंकर न *'पुनि पुनि पुलक शरीर'* हों।]

पु० रा० कु०—२ **मम धाम**=परमधाम अवध, साकेत, पर-वैकुण्ठ। जहाँसे पुनरागमन नहीं होता।

वि० त्रि०—हनुमान्‌जीने जो भगवती जनकनन्दिनीसे कहा था कि *'अबिचल राज बिभीषन पावा',* उसीका विवरण यहाँ हो रहा है कि 'तुम इस कल्प भर लङ्काका राज्य करो'। भाव यह कि यह भय न करो कि यह राज्य कोई तुमसे छीन लेगा (जैसे कि पहलेसे होता आया है) यह राज्य प्रलयतक तुम्हारे अधीन रहेगा, परंतु मुझे मनसे सुमिरते रहना। सम्पत्तिके स्थिर रखनेका यही उपाय हनुमान्‌जीने रावणको बतलाया था। यथा—*'रामचरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥'* यह तो हुई इस लोककी बात, और परलोकके लिये कहते हैं कि तुम्हें मेरे धामकी प्राप्ति होगी। इस भाँति विभीषणका दोनों लोक बन गया।

नोट—१ ☞ सच्चे भगवद्भक्तके मुखसे जो वाक्य निकल जाता है उसे प्रभु पूरा करते हैं। *'अबिचल राज बिभीषन पावा'* यह श्रीहनुमान्‌जीने प्रथम ही कहा था उसकी पूर्ति प्रभुने यहाँ करके वचनको प्रमाण किया और योगके साथ क्षेमका उपाय भी बता दिया। श्रीभुशुण्डिजीसे भी ऐसा ही कहा है। यथा—*'कबहूँ काल नं ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥'* (७। ८८) इससे उपदेश मिलता है कि कोई समय प्रभुके भजन-स्मरणसे खाली न रहे तो कराल कलिकाल व्याप नहीं सकता।

नोट—२ (क) *'करेहु कल्प भरि राज'* कहनेका भाव कि विभीषणजीके हृदयमें लङ्काराज्यकी वासना लङ्कात्यागके समय हो आयी थी; यद्यपि वह प्रभुके दर्शनसे रह नहीं गयी तथापि प्रभुने उस वासनाकी भी पूर्ति करा दी। *'कल्प भरि'* का भाव उस कल्पमें जितने चतुर्युग अभी शेष हैं उतने युगोंतक राज्य करो। पुन: भाव कि कल्पके भीतर जब कोई वरदानी प्रबल राजा मारा जाता है और अन्य कोई असुर ऐसे नहीं रह जाते जो देवताओंका सामना कर सकें, तब देवता ही स्वयं उसपर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं यथा—*'रहे तहाँ निसिचर भट मारे। ते सब सुरन्ह समर संघारे॥ अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे॥'* (१७९। १) इसीसे कहा कि *'कल्प भर'* राज्य करो अर्थात् कोई देवता तुम्हारा यह राज्य नहीं ले सकता, हम सदा तुम्हारे रक्षक रहेंगे, तुम स्मरणमात्र करते रहना। अ० रा० में भी कहा है **'स्वराज्ये वस लंकायां मम भक्तो विभीषण। न त्वां धर्षयितुं शक्ता: सेन्द्रा अपि दिवौकस:॥'** (१३। ५२) अर्थात् तुम मेरी भक्तिमें तत्पर रहकर अपने राज्यपर लङ्कामें रहो। अब इन्द्रके सहित देवगण भी तुम्हारा बाल बाँका नहीं कर सकते। (ख) विभीषणजी इतनी बड़ी अवधि सुनकर घबड़ा न जायँ कि विषयमें पड़कर हम भवमें न पड़ जायँ अत: कहते हैं, स्मरण करते रहना, इतनी अवधि बीतनेपर तुम मेरे धामको आओगे इसमें संदेह नहीं।

सुनत बिभीषन बचन राम के। हरषि गहे पद कृपाधाम के॥ १॥
बानर भालु सकल हरषाने। गहि प्रभुपद गुन बिमल बखाने॥ २॥

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सुनते ही विभीषणने प्रसन्न होकर कृपाके धाम श्रीरामचन्द्रजीके चरण पकड़ लिये॥ १॥ सभी वानर और भालु प्रसन्न हुए और प्रभुके चरण पकड़कर उनके निर्मल गुणोंका वर्णन करने लगे॥ २॥

नोट—१ *'हरषि गहे पद कृपाधाम के'* इति। (क) हर्षका कारण यह कि 'कल्पपर्यन्त राज्य-भोग और अन्तमें प्रभुके धामकी प्राप्ति' दोनों प्रभुने दिये। पुनः, प्रभुका अभीष्ट जानकर हर्ष हुआ कि दी हुई वस्तुको प्रभु माँगनेमें संकोच करके नहीं माँगते पर इशारेसे जना दिया कि पुष्पकद्वारा तुम हमें अयोध्या शीघ्र पहुँचा सकते हो। उसके लिये प्रभु विनती करते हैं, निहोरा लेते हैं, ऐसे शील-संकोची स्वभावको देखकर प्रसन्न हुए। (ख)—कृतज्ञता सूचित करनेके लिये चरण पकड़े। ☞इस पदसे यह भी जनाया कि श्रीविभीषणजी निष्काम अनन्य भक्त हैं जो प्रभुकी इच्छामें ही प्रसन्न हैं।

प० प० प्र०—*'हरषि गहे पद कृपाधाम के'* इति। भाव कि 'भगवान्‌ने मेरी सभी इच्छा परिपूर्ण की, इस भावसे प्रभुकी अपार कृपाका चिन्तन करते ही सत्त्वभावापन्न हो गये। *'प्रभु सनमुख कछु कहन न पारहिं', 'सुनि प्रभु बचन मगन मन भए'* ऐसी दशा हो गयी। *'त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर'* आदि कहनेकी इच्छा होती है पर प्रेममें मग्न हो गये। *'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'* इस भावनासे ही उन्होंने *'गहे पद कृपा धाम के'*।

नोट—२ *'बानर भालु सकल हरषाने।'* शरणागतवत्सलता, भक्त-शिरोमणि भरतपर प्रेम, विभीषणको अचल राज्य, शील-संकोची-स्वभाव इत्यादि गुणोंको देख हर्षित हुए और इन गुणोंका गान करने लगे। यथा—*'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान', 'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'* इत्यादि। नोट—३ ☞*'गहि प्रभु पद.........'* यह भी रहस्य है। सभीने प्रभुके चरण पकड़े।

बहुरि बिभीषनु भवन सिधायो। मनिगन बसन बिमान भरायो॥ ३॥
लै पुष्पक प्रभु आगे राखा। हँसि करि कृपासिंधु तब भाषा॥ ४॥
चढ़ि बिमान सुनु सखा बिभीषन। गगन जाइ बरषहु पट भूषन॥ ५॥
नभ पर जाइ बिभीषन तबहीं। बरषि दिए मनि अंबर सबहीं॥ ६॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी फिर राजभवन गये और मणि-समूह तथा वस्त्र विमानमें भराये॥ ३॥ (मणि और वस्त्रसे पूर्ण) पुष्पक विमानको लाकर प्रभुके आगे रखा तब दयासागर श्रीरामजी हँसकर बोले—हे सखे! विभीषण! सुनो; विमानपर चढ़कर आकाशमें जाकर वस्त्राभूषणोंकी वर्षा कर दो॥ ४-५॥ (आज्ञा सुनते ही तुरंत) उसी समय विभीषणने आकाशमें जाकर सब मणि और वस्त्र बरसा दिये॥ ६॥

पु० रा० कु०—वानरोंने जो रणमें महत् कर्म किये उसके प्रत्युपकारार्थ एवं उनके प्रसन्नतार्थ और विभीषणके सम्मानार्थ विभीषणसे प्रभुने पटभूषण बरसानेको कहा। यथा—**'ते इमे कृतकर्माणः सर्व एव वनौकसः। धनरत्नप्रदानैश्च कर्मैषां सफलं कुरु॥ एवं सम्मानिताश्चैते नन्दमाना यथा त्वया। भविष्यन्ति कृतज्ञेन निर्वृता हरियूथपाः॥'** (वाल्मी० १२२। ६-७) अर्थात् कृतकर्म इन वानरोंके कर्म सफल करनेके लिये रत्नादि प्रदान कर इनके परिश्रमको सफलकर इन्हें प्रसन्न करो। इनका ऐसा सम्मान कीजिये कि आपसे अभिनन्दित हो ये कृतज्ञ और अत्यानन्दित हों।

नोट—१ *'बहुरि बिभीषनु भवन.........।'* इति। *'बहुरि'* का भाव कि प्रथम राज्याभिषेकके लिये गये थे पर तिलक होनेपर लौट आये थे; तबसे प्रभुके पास रहे। देवताओंके चले जानेपर प्रभुसे नगरमें चलने इत्यादिकी प्रार्थना की। जब प्रभुने यह प्रार्थना स्वीकार न की तब फिर घर गये और भेंटके लिये उत्तम-

उत्तम रत्न-वस्त्रादि विमानमें भराकर ले आये।

नोट—२ *'हँसि करि कृपासिन्धु.........।'* इति। (क) हँसनेका भाव कि यद्यपि हमने इसकी किञ्चित् इच्छा नहीं की तब भी ये प्रेमवश ले ही आये। विभीषणके इस प्रेमको देख हँसकर प्रसन्नता प्रकट की। अथवा, प्रभुको इस समय हास्य-रसकी रुचि हुई। वे वानरोंका हास्यप्रद कौतुक देखना चाहते हैं। यह विनोदपूर्ण हास्य है। (ख) *'कृपासिन्धु'* का भाव कि वे वानरोंपर एवं विभीषणपर कृपा कर रहे हैं। दोनोंके हितके लिये वचन कह रहे हैं। वानरोंको मणि-भूषण यथारुचि दिलायेंगे और उनके साथ विनोद करेंगे, यह उनपर कृपा है और विभीषणका हित भी इसमें है, जैसा कि वाल्मी० १२२ के उपर्युक्त श्लोकसे स्पष्ट है। आगे फिर यह भी कहा है कि यदि दानमानसे इन्हें प्रसन्न रखोगे तो ये सब आपके पास आगे भी आते-जाते रहेंगे—इसीसे हमने तुमसे यह कहा है। यथा—**'सर्वे त्वामभिगच्छन्ति ततः सम्बोधयामि ते॥'** (८) इसी अभिप्रायको सूचित करनेके लिये *'कृपासिन्धु'* विशेषण दिया।

पं०—१ *'सखा बिभीषन।'* *'सखा'* सम्बोधनका भाव कि यदि विभीषणजी कहें कि आप ही बाँट दें तो प्रथम ही *'सखा'* कहकर जनाया कि तुम सखा हो, अतः तुम्हारा देना मेरा ही देना है। अथवा, उनके सम्मानहेतु *'सखा'* सम्बोधन किया। [नोट—प्रभु इनको अपना सखा मानते ही हैं और इनकी गणना सखाओंमें की गयी है। शरणागत होनेपर ही इनको सखा बना लिया था, यथा—*'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ', 'जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं'* इत्यादि।]

प्रभुने अपने या विभीषणजीके हाथसे क्यों न बाँटा? आकाशमें जाकर बरसानेको क्यों कहा? उत्तर यह है कि—(क) शत्रुपर जय पानेपर लूटमार होती है और वानर स्वभावसे ही लूटमें प्रसन्न होते हैं; पर ये शत्रुके नगरको न लूट सके, क्योंकि विभीषणको वह नगर मिल चुका था। विमानपरसे वर्षा होनेसे उनकी यह इच्छा पूर्ण हो जायगी। पुनः, (ख) 'वानर-कटक अपार है, हाथसे एक-एकको देनेमें बहुत समय लगेगा और प्रभुको तुरंत श्रीअवधकी यात्रा करनी है; आकाशसे लुटानेसे तुरंत सबको वस्त्र-भूषण मिल जायँगे' जो जहाँ हैं वहींपर रुचि-अनुकूल वस्त्राभूषण पा जायँगे। पुनः, (ग) हाथसे बाँटनेमें किसीको पहिले, किसीको पीछे मिलनेसे एकका मान होगा तो दूसरेका अपमान, मान-अपमानकी शंका भी ऊपरसे लुटानेमें न रह गयी। पुनः, (घ) हाथसे देनेमें वह कौतुक एवं विनोद न रहेगा जो लुटानेपर देखनेमें आयेगा।

मा० हं०—तुलसीरामायणमें युद्धके बादका सम्पूर्ण भाग वाल्मीकि और अध्यात्मके ही समान परंतु अतीव संक्षिप्त और प्रेमपरिप्लुत हुआ है। पुष्पक-विमानसे विभीषणका आकाशमेंसे वस्त्र और आभूषणकी वृष्टि करना यह एक नवीनता है। इस वृष्टिके सम्बन्धमें एक शंका उपस्थित की जाती है। लंकाका राज्य विभीषणको दे दिया गया था, अतएव श्रीरामजीने वहाँ पाँव भी नहीं रखा। सचमुच उनका यह लोक-शिक्षणव्रत बड़ा कड़ा था, परंतु शंका यह है कि उन्होंने विभीषणको दी हुई सम्पत्ति बंदरोंके द्वारा क्यों लथड़वायी? अर्थात् उनका यह कार्य लोकशिक्षादृष्टिसे ठीक नहीं हुआ। एक तो इससे उद्दण्डता दिखलायी गयी, दूसरे संपत्ति रावणको शंकरार्पित होनेके कारण परम्परा शंकरजीका तिरस्कार भी बतलाया गया। गोसाईंजीकी लोकशिक्षापर इस भागसे थोड़ा दोष ही लगता नजर आता है। यह शंका भावनात्मक और मार्मिक है। इसलिये हम उसका यहाँ विचार करते हैं। राज्यके साथ सम्पत्ति भी विभीषणकी हुई और उसपर श्रीरामजीका नेतृत्व (विजय) का हक भी चला गया; यह सब हमें मंजूर है। परन्तु इसके पश्चात्का जो शंकाका भाग है केवल उसे हम नहीं मानते। श्रीरामजीको विभीषण अपनी खुशीसे विमान भरकर सम्पत्ति देने लगा। श्रीरामजीने अपना हक दिखलाकर कुछ उससे सम्पत्ति माँगी नहीं थी, इसलिये वे उसको स्वीकार भी कर लेते तो भी कुछ लाञ्छन न था। परन्तु दी हुई वस्तुका स्वीकार करना भी उनके व्रतको असह्य मालूम हुआ। यहाँ श्रीरामजीको सच्ची-सच्ची कठिनाई ज्ञात हुई। वह यह थी कि एक तो विभीषणको अप्रसन्न करना उन्हें अच्छा न लगता था और दूसरे उसकी सम्पत्तिको भी स्वीकार करते न बनता था।

इसके अतिरिक्त एक तीसरी भी बात उनके मनको उद्विग्न करने लगी। उन्होंने देखा कि विभीषण तो चिरंजीवी है और यदि उसकी सम्पत्ति भी वैसी ही चिरस्थायी न हो तो उसके सुबह राजा और शामको फकीर होनेमें क्या अर्थ? इस कारण उनके सम्मुख बड़ा ही कूट प्रश्न आकर उपस्थित हुआ। उन्होंने देखा कि यह सम्पत्ति रावणने अन्याय और अत्याचारसे कमायी है। यद्यपि उसका कुछ भाग शंकरजीसे प्राप्त किया गया है तथापि स्वशिरच्छेद करके ही अर्थात् तमोगुणमूलक क्रियासे ही। इसलिये ऐसी पापमय सम्पत्तिकी स्थिरता असंभव तो है ही, किंतु इसके सिवा ऐसी सम्पत्तिके संसर्गसे विभीषणकी साधक-वृत्तिको हानि पहुँचनेका भय है। ऐसी अशुद्ध सम्पत्ति शुद्ध किये बिना चिरस्थायी नहीं हो सकती। केवल एक इसी विचारसे श्रीरामजीने उसका शुद्धिकरण प्रयोग निश्चित किया। निष्काम रामभक्तोंके चरणोंपर उस सम्पत्तिको अर्पण करवा देना यही उनका वह प्रयोग था। हमारे मतसे यह वृष्टि **'सा संपत्तिर्विपत्तिः स्यान्महान्तो नादृताः यथा'** इस शास्त्ररहस्यका प्रत्यक्ष प्रयोग ही है।

हमारी दृष्टिसे एक वृष्टिके बहाने श्रीरामजीने इतनी बातें साध लीं। वानरादिकोंके सम्बन्धकी अपनी कृतज्ञता और आदरबुद्धि, उनकी निष्कामभक्तिका कुतूहल तथा विभीषणके साधकत्व और राजवैभवका स्थायी भाव।

जोइ जोइ मन भावै सोइ लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं॥ ७॥
हँसे रामु श्री अनुज समेता। परम कौतुकी कृपानिकेता॥ ८॥

अर्थ—जिसके मनको जो-जो अच्छा लगता है वही-वही वह लेता है। मणिको खानेका पदार्थ समझकर मुँहमें डालकर वानर उसे उगल देते हैं॥ ७॥ परम विनोदी कृपाधाम श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजी और भाईसहित यह कौतुक देखकर हँसने लगे॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'मनि मुख मेलि'''''''* इति। भक्ष्यवस्तुके धोखे मुँहमें डालते हैं, यह कपिस्वभाव दिखाया। पुनः, मणि भी ऐसे-ऐसे हैं कि उनसे फलोंका भ्रम हो गया जैसे दुर्योधनको जलमें थलका भ्रम हुआ थलमें जलका। टिप्पणी—२ सेनाके वानरोंने ही लूटा। सुग्रीवादि सरदारोंने नहीं लूटा। जो वानरोंसे बुलाये गये उन्हींने लूटा और उन्हींको धोखा हुआ।

पं०—पहले फल समझकर खाते हैं, मुँहमें डालनेपर स्वाद न मिलनेपर उनको कृत्रिम जानकर गिरा देते हैं।

वीर—रत्नादि खानेकी वस्तु नहीं, उन्हें खानेके लिये मुखमें डालना 'द्वितीय असंगति अलङ्कार' है। मणिको खानेकी वस्तु समझना 'भ्रान्ति' है। दोनोंका संदेहालङ्कार है।

दो०—मुनि जेहि ध्यान न पावहिं* नेति नेति कह बेद।
कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥
उमा जोग जप दान तप नाना मख† ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहि तसि जसि निष्केवल प्रेम॥ ११६॥

अर्थ—जिन्हें मुनि ध्यानमें भी नहीं पाते, और जिन्हें वेद 'नेति-नेति' कहते हैं वही दयासागर श्रीरामजी वानरोंसे अनेकों विनोद (हास-विलास, आमोद-प्रमोद, हँसी-खेल) कर रहे हैं। हे उमा! अनेकों प्रकारके योग, जप, तप, यज्ञ, व्रत और नियम करनेपर भी श्रीरामचन्द्रजी वैसी कृपा नहीं करते जैसी शुद्ध प्रेम होनेपर करते हैं॥ ११६॥

☞ *'नेति-नेति'* इति। श्रीमद्भागवतमें वेदोंने स्तुति करते हुए कहा है **'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्तया**

---

* ध्यान न पावहिं जाहि मुनि। † ब्रत मष (का०)।

त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः। ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतयस्त्वयि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥' (१०। ८७। ४१) जिसका भाव यह है कि 'हे भगवन्! स्वर्गादि लोकोंके पति ब्रह्मा भी आपके प्रतापका अन्त नहीं पाते, इसमें आश्चर्य ही क्या है, जब कि आप स्वयं अपने अन्तको नहीं पाते, परंतु इससे आपकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता नष्ट नहीं होती, क्योंकि आपका अन्त है ही नहीं तब वह मिले कैसे? आपके स्वरूपमें आकाशकी रजके कणोंकी नाईं कालचक्रद्वारा उत्तरोत्तर दस-दस गुणे आवरणोंयुक्त ब्रह्माण्डोंके समस्त स्वरूप एक साथ घूमा करते हैं, इस प्रकार होनेसे श्रुतियाँ तात्पर्यवृत्तिसे आपहीका निरूपण करती हैं पर स्पष्टतया कह नहीं सकतीं क्योंकि सगुणरूपके गुण अनंत हैं और निर्गुण रूपतक वाणीकी पहुँच नहीं है, इसलिये आपका स्पष्टतया सम्पूर्ण प्रतिपादन नहीं हो सकता। अस्तु, वे अनात्म पदार्थोंका निषेध (अन्त) बतलाती हुई अन्तमें आपहीका प्रतिपादन करती हैं, क्योंकि किसी पदार्थकी अन्तिम सीमा बतलाये बिना उसका निषेध नहीं किया जा सकता, इसलिये श्रुतियाँ निषेधकी सीमारूप आपका ही प्रतिपादन करती हैं। (पं० गोविन्ददास 'विनीत' की टीका)। सारांश यह कि अनन्तका पार कोई पा ही नहीं सकता, आप भी अपना पार बता नहीं सकते, तब हम आपके स्वरूपका साक्षात् वर्णन कब कर सकती हैं। आपके अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते अन्तमें अपना भी निषेध कर देती हैं और आपमें ही अपनी सत्ता खोकर सफल हो जाती हैं। (भागवताङ्क)।—यही *'नेति-नेति'* कहनेका भाव है। *'नेति-नेति'* कहकर श्रुतियाँ बताती हैं कि जिसका निर्देश हम *'नेति-नेति'* शब्दोंसे करती हैं वह आत्मा अग्राह्य है, वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है उसका नाश नहीं होता; वह असङ्ग है, कहीं आसक्त नहीं होता; वह बँधा नहीं है, इसलिये व्यथित नहीं होता और न उसका क्षय होता है। यथा—**'स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु………'** (बृहदा० अ० ४ ब्राह्मण ४। २२)

नोट—१ कहाँ तो *'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं………।'* अर्थात् मुनियों और वेदोंको भी दुर्लभ और कहाँ ऐसे मूर्ख वानर सो उनको इतने सुलभ। यह विपरीत कैसा? इस शङ्काका समाधान शिवजी दूसरे दोहेमें करते हैं। ठीक यही आशय चित्रकूटमें भीलोंके प्रसङ्गमें है, यथा—*'बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्हके सुनत जिमि पितु बालक बैन॥'* (अ० १३६), *'रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥'* ☞उपदेश है कि योगादिमें न भूलकर प्रभुमें अनुराग करो। यह विशेष कृपा तो जीवमात्रपर है ही—*'सब पर मोरि बराबरि दाया।'* नोट—२ *'तसि'* से जनाया कि योगादिमें भी कृपा करते हैं, पर ऐसी नहीं जैसी कि प्रेममें करते हैं। जब बहुत योगादि करते हैं तब कहीं कभी ध्यानमें आ जाते हैं, यथा—*'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं'* (कि० ९)।

खर्रा—प्रेममें अभिमान नहीं रहता। योग, यज्ञ, जप, तप, दानादिमें कर्तृत्वका अभिमान बना रहता है। इसीसे प्रेममें विशेष कृपा है।

पं० रा० व० श०—*'निष्केवल प्रेम'* यह भोलापनवाला गाढ़ प्रेम है जिसमें साधनकी आवश्यकता ही नहीं है, साधन हो या न हो।

शङ्का—मानसके इस दोहेमें तुकान्त नहीं मिलते। पूर्वार्धका अन्तिम शब्द 'वेद' है और उत्तरार्द्धके अन्तमें 'विनोद' है। क्या इसमें भी कोई रहस्य है?

समाधान—वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि मजाकका मजा तब है जब दोनोंकी ज्ञातव्यता हो अर्थात् जिसकी हँसी उड़ायी जाय वह भी समझ जाय कि हमारी अमुक गलतीपर यह हँसी उड़ायी जा रही है और वह मजाक करनेवालोंको भी मालूम हो जाय कि हमारी हँसीका कारण (लक्ष्य) उसे लक्षित हो गया। यदि ऐसा न हुआ तो वह मजाक (विनोद) एकाङ्गी हो जाता है, उभयनिष्ठ नहीं रहता। यहाँका हास्य भी एकाङ्गी ही है। वानरोंकी गलतीपर *'हँसत राम श्रीअनुजसमेता।'* श्रीरामजी भाई और स्त्रीके साथ हँस रहे हैं पर वानर बेचारे उस तथ्यको समझ न पानेसे अपने उस व्यापारसे विरत नहीं होते,

अतः यह विनोद एकाङ्गी है, असम है। इसीसे दोहेका तुकान्त भी असम है। स्मरण रखना चाहिये कि *'मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं।'* आदि व्यापारशील कपिगण सुग्रीवादिवत् अप्राकृत कपि नहीं हैं अपितु प्राकृत कपि हैं। अप्राकृत और प्राकृत कपिमें उतना ही भेद था जितना कि एक नागरिक ग्रैजुएट और नितान्त ग्रामीण मूर्ख चरवाहेमें। इसी तरहके और भी तीन स्थानोंपर मानसमें असम या (पं० रामनरेश त्रिपाठीके शब्दोंमें) शिथिल तुकान्तकी पंक्तियाँ हैं और उनके भी तत्तत्स्थानोंपर विशिष्ट भाव हैं। ऐसे ही मानसेतर ग्रन्थोंसे भी भावविशेषके ही कारण गोस्वामीजीने जान-बूझकर असम तुकान्त रखे हैं।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि इस दोहेका पूर्वार्ध अयोध्याकाण्डके दोहा १३६ के पूर्वार्ध *'बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन'* से मिलता-जुलता है। वहाँका *'मुनि मन अगम'* ही यहाँका *'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं'* है और *'बेद बचन अगम'* यहाँका *'नेति नेति कह बेद'* है। वहाँ *'करुना ऐन'* है जो यहाँ *'कृपासिंधु'* है। वह दोहा किरातोंके और यह दोहा वानरोंके सम्बन्धमें है। ये दोनों ही वनचर हैं। पर किरात-सम्बन्धी दोहेमें तुकान्तमें वैषम्य नहीं है। उसका उत्तरार्ध है—*'बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन'।*

यहाँ *'बेद'* से 'नोद' में एक 'क' कार अधिक रखकर जनाया है कि जितना प्रेम भगवान् किरातोंपर करते थे उससे अधिक प्रेम इन वानरोंपर कर रहे हैं। मनुष्य होनेसे किरात वानरोंसे जन्मना श्रेष्ठ हैं, फिर भी भगवान्ने उनके साथ विनोद नहीं किया, केवल उनके अटपटे वचन प्रेमसे सुने और इनके साथ विनोद कर रहे हैं। यह प्रेमाधिक्य दिखानेके लिये यह विषमता हुई है। यहाँ चतुराननके *'कृतकृत्य बिभो सब बानर ए', 'धिगजीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे।'* इन वचनोंको भी चरितार्थ किया है।

भालु कपिन्ह पट भूषन पाए। पहिरि पहिरि रघुपति पहिं आए॥ १॥
नाना जिनिस देखि सब कीसा। पुनि पुनि हँसत कोसलाधीसा॥ २॥

अर्थ—रीछ और बन्दरोंने वस्त्राभूषण पाये और पहन-पहनकर श्रीरघुनाथजीके पास आये॥ १॥ अनेक प्रकारके सब वानरोंको देखकर कोसलराज श्रीरामजी बारंबार हँस रहे हैं॥ २॥

रा० प्र०—*'नाना जिनिस'।* भाव कि एक तो रूप विचित्र है, उसपर भी इस रीतिसे भूषण-वस्त्र पहने हैं (कि हाथका पैरमें, पैरका बाहुमें इत्यादि उलटा-पलटा पहनाव है)। हास्यरस-उद्दीपक अद्भुत शोभा बनी देख हँसी आ गयी। हँसी रोके नहीं रुकती अतः बारंबार हँसते जाते हैं। कौतुकके सम्बन्धमें *'कोसलाधीस'* पद दिया।

पं०—अनेकरूप (जाति) के वानर-भालु हैं और अनेक रंग-बिरंगके वस्त्र पहने हैं, यह उनकी शोभा देखकर हँसे। क्योंकि राजा हैं।

नोट—*'पुनि पुनि हँसत'* से जनाया कि जैसे-जैसे वे प्रभुके पास आते हैं वैसे-वैसे प्रभु एक-से-एक विचित्र हास्योद्दीपक पहिरावा देख विनोदार्थ हँसते हैं।

चितै सबन्हि पर कीन्ही दाया। बोले मृदुल बचन रघुराया॥ ३॥
तुम्हरे बल मैं रावनु मार्‌यौ। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्‌यौ॥ ४॥
निज निज गृह अब तुम सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपहु* जनि काहू॥ ५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने (कृपादृष्टिसे) सबको देखकर सबपर दया की और कोमल वचन बोले॥ ३॥ हे मित्रो! तुम्हारे ही बलसे मैंने रावणको मारा और विभीषणका फिर राजतिलक किया॥ ४॥ अब तुम सब अपने-अपने घर जाओ, मेरा स्मरण करना और किसीको डरना नहीं॥ ५॥

नोट—१ *'बोले मृदुल बचन'* इति। मृदुल कोमल वाणी तो स्वाभाविक ही है। पर यहाँ वियोगकी

* डरेहु—(का०)।

बात कहनी है इससे *'बोले मृदुल बचन'* कहा। आगे जो कहते हैं वह सब मृदुल वचन हैं। (ख) *'तुम्हरे बल'* का भाव कि तुमने यज्ञ-विध्वंस किया, सेना मारी, रावणको शिथिल कर दिया, तब हमने मारा।

करु०—*'निज निज गृह जाहू'* में अभ्यन्तर अभिप्राय यह भी है कि तुम लोग जो देवताओंके अंश हो सो अपने-अपने अंशोंमें जा प्राप्त हो और जो हमारे पार्षद हैं वे हमारे साथ जायँगे।

नोट—२ *'डरपहु जनि काहू'* इति। हमारे बलका स्मरण करते रहना, इसका फल यह होगा कि तुम्हें किसीसे भय न रहेगा—यह बात जनानेके लिये प्रथम *'सुमिरेहु'* कहा तब *'डरपहु जनि काहू'* कहा। स्मरणसे हमारा सामर्थ्य तुम्हें सदा याद रहेगा अतएव तुम भूलकर भी किसी दूसरेको अपना स्वामी न समझोगे—यह कहकर इनके द्वारा सारे जगत्‌को उपदेश दे रहे हैं कि जिसको हमारा सच्चा भरोसा है उसको त्रिलोकीमें किसीका भय नहीं है, देवराज इन्द्र भी इसका कुछ नहीं कर सकते, यथा—**'न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः।'** (वाल्मी० १२२। १६) सारांश यह कि किसी दूसरेका आशा-भरोसा कभी न करना, यथा—*'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥'*

वि० त्रि०—*'निज निज गृह·······काहू।'* भाव यह कि जिस कामके लिये तुम सब घरसे बुलाये गये थे वह सम्यक् प्रकारसे पूरा हो गया। अब तुम लोगोंको यहींसे छुट्टी दी जाती है, किष्किन्धा जानेकी आवश्यकता नहीं, जिधरसे सुभीता पड़े अपने घर चले जाओ। 'तुम सब' कहनेका यह भाव है कि तुम लोगोंने लङ्का-विजय किया, पर मरा कोई भी नहीं, जितनी संख्यामें आये थे ठीक उतनी संख्यामें लौटे जा रहे हो। इससे समझ सकते हो कि तुमको किसीसे डरनेकी आवश्यकता नहीं, मेरी कृपा सदा तुमपर बनी रहेगी। परंतु सभी मेरा स्मरण करते रहना, यथा—*'राम को सुमिरिबो सब बिधि ही को राज रे। राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे'।*

सुनत बचन प्रेमाकुल बानर। जोरि पानि बोले सब सादर॥ ६॥
प्रभु जोइ कहहु तुम्हहि सब सोहा। हमरे होत बचन सुनि मोहा॥ ७॥
दीन जानि कपि किए सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥ ८॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनते ही वानर प्रेमसे विह्वल हो गये। हाथ जोड़कर आदरपूर्वक सब बोले॥ ६॥ प्रभो! आप जो कुछ भी कहें वह सब आपको सोहता है, पर ये वचन सुनकर हमको मोह होता है॥ ७॥ हे रघुनाथजी! आप (तो) तीनों लोकोंके स्वामी हैं, आपने हम वानरोंको दीन जानकर सनाथ किया (अपनाया और हमारे सब प्रकार नाथ बने। यथा—*'सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू'*)॥ ८॥

नोट—१ प्रभुके माधुर्यके वचन मोहमें डालनेवाले हैं। इसीसे वचन सुनकर वे घबड़ा गये कि कहीं हमारे मनमें ऐसा मोह न उत्पन्न हो जाय कि हमने प्रभुकी सहायता की तब वे रावणका सकुल नाश कर सके। अतः वे अकुलाकर हाथ जोड़कर आदरपूर्वक बोले।

नोट—२ *'प्रभु जोइ·······'* भाव कि आपने जो कहा वह आपके योग्य है। प्रतिष्ठित बड़े लोग ऐसा कहते हैं, ऐसा कहना उनके मुखसे शोभा देता ही है पर *'हमरे होत बचन सुनि मोहा'।* वानरोंके इस कथनका आशय यह है कि हमें भुलावेमें न डालिये। मोह उत्पन्न होनेसे हम आपको खो बैठेंगे, हम कहींके न रह जायँगे। यथा—*'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥'* (उ० ६२) ☞ *'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'* प्रभुके मोहमें डालनेवाले ये वचन सुनकर हनुमान्‌जी भी *'चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत।'* (सुं० ३२) वही भाव यहाँ वानरोंके वचनोंमें है। अर्थात् इस मोहसे हमारी रक्षा कीजिये।

सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ* खगपति हित करहीं॥ ९॥
देखि रामरुख बानर रीछा। प्रेम मगन नहिं गृह कै ईछा॥ १०॥

* कतहूँ—(का०)। कहूँ—(भा० दा०, पं० रा० गु० द्वि०)।

अर्थ—प्रभुके ये वचन सुनकर हम लज्जासे (शर्मके मारे) मरे जाते हैं, कहीं मच्छर पक्षिराजका हित (अर्थात् उनकी सहायता) कर सकते हैं? (कदापि नहीं)॥ ९॥ वानर और ऋक्ष श्रीरामजीका रुख देखकर (कि वे साथ नहीं ले जाना चाहते) प्रेममें डूब गये, उनको घर जानेकी इच्छा नहीं है॥ १०॥

नोट—१ अपनेको मच्छर और प्रभुको पक्षिराज गरुड़ कहकर जनाया कि हमारे समान छोटा और कम बलवाला कोई नहीं और आप-समान बड़ा नहीं; यथा—*'तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता'*। *'मसक कहूँ खगपति हित करहीं'*, यह प्रभुके *'तुम्हरे बल मैं रावन मार्यौ।.........।'* का उत्तर है। भाव कि हमारा बल तो ऐसा है जैसे मच्छरका कि एक फूँकमें उड़ जाता है। गरुड़की सहायता भला मच्छर क्या करेगा? वैसे ही आपकी सहायता भला हम क्या करेंगे? अतएव वचन सुनकर कि तुम्हारे बलसे हमने रावणको मारा हमें अतिशय लज्जा लग रही है कि हम तो कुछ भी न कर सके; किंतु यदि प्रभु हमारी रक्षा न करते तो हममेंसे एक भी न जीता देख पड़ता। यही नहीं वरन् हमको मरनेपर भी पुनः जिला लिया, इत्यादि। और, फिर भी आप उल्टे कहते हैं कि हमने आपकी सहायता की। कहाँ तो हमारी करनी कि रणसे भागे थे और कहाँ यह प्रशंसारूपी कृपा!! यह सरकारी कृपाकी चरम अवस्था है कि उल्टे हमारे ऋणी बनते हैं।

वानरोंके वाक्यमें प्रेमका सम्पुट दिया है। *'बचन सुनत प्रेमाकुल बानर'* उपक्रम है और *'प्रेम मगन.........'* उपसंहार।

प० प० प्र०—*'तुम्हरे बल मैं रावनु मार्यो'* से लेकर *'मसक कहूँ खगपति हित करहीं'* तक छः अर्धालियोंमें भारतीय स्वामि-सेवक-भावका सार ही बताया है। स्वामी अपनी विजय और पराक्रम और कीर्ति आदिका कारण सेवकोंको ही समझते, मानते और कहते हैं, उनको बड़ाई देते हैं। सेवक समझते हैं कि स्वामिप्रताप ही सबका कारण है। और मान-बड़ाईसे लज्जित होते हैं। यही आदर्श स्वामि-सेवक सम्बन्ध है। आज उसका उल्टा जो देखनेमें आ रहा है वह पाश्चात्य संस्कृतिका परिणाम है।

पं०—कपि बिछोह न सह सके अतः प्रेममें डूब गये।

दो०—प्रभु प्रेरित कपि भालु सब रामरूप उर राखि।
हरष * बिषाद सहित चले बिनय बिबिध बिधि भाषि॥ ११७॥

अर्थ—प्रभुकी प्रेरणासे सब वानर-भालु-हृदयमें (वनवासी धनुर्धर) श्रीरामरूप धारण करके अनेकों प्रकारसे विनती करके हर्ष-शोकयुक्त चले॥ ११७॥

नोट—१ (क) *'प्रभु प्रेरित'* का भाव कि अन्तर-बाहर सबके नियन्ता प्रभु ही हैं, अतः उनकी प्रेरणासे उनकी आज्ञा मानकर चले। (रा० प्र०)। यद्यपि बंदर-भालू सब प्रेममें मग्न हैं, किसीको घर जानेकी इच्छा नहीं है, तथापि अन्तर्यामीकी प्रेरणा बड़ी बलवती है। भगवती श्रुति कहती है **'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाच ँ स उ प्राणस्य.......॥'** (केन० १। १-२) (अर्थात् मन किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर अपने विषयोंमें गिरता है? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम प्राण चलता है? प्राणी किसके द्वारा इच्छा की हुई यह वाणी बोलते हैं? कौन देव चक्षु तथा श्रोत्रको प्रेरित करता है? जो श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन और वाणीका वाणी है वही प्राणका प्राण और चक्षुका चक्षु है। उसी प्राणके प्राणकी ही प्रेरणासे मन-इन्द्रियादिक अपने-अपने कार्यमें लग जाती हैं। इसीसे न चाहते हुए भी बंदर-भालू चल पड़े, परंतु रामजीके रूपको हृदयमें रख लिया। (वि० त्रि०) (ख) *'राम रूप'* अर्थात् जो रूप निरन्तर देखते रहे। जबसे साथ हुए।

नोट—२ *'बिनय बिबिध बिधि भाषि'* इति। यथा पूर्व विनय की थी—*'दीन जानि कपि किए सनाथा'*

* पाठान्तर—'हरष बिषाद समेत तब चले बिनै बहु भाषि'—(का०, पं०)

इत्यादि। कृपा बनाये रखनेके लिये अनेक प्रकारसे विनय की। नोट—३ हर्ष घर जानेका कि बहुत दिनोंपर घर-बारका फिर दर्शन होगा एवं इससे कि जय पाकर कृतकार्य होकर घर जा रहे हैं और विषाद ऐसे कृपालु प्रभुके वियोग-विरहका दोनों भावोंका एक साथ उदय 'प्रथम समुच्चय अलङ्कार है।'

दो०—कपिपति नील रीछपति अंगद नल हनुमान*।
सहित बिभीषन अपर जे जूथप कपि बलवान॥
कहि न सकहिं कछु प्रेम बस भरि भरि लोचन बारि।
सन्मुख चितवहि राम तन नयन निमेष निवारि॥११७॥

अर्थ—कपिराज सुग्रीव, नील, ऋक्षपति जाम्बवन्त, अङ्गद, नल, हनुमान् और विभीषणसहित, अन्य जो बली यूथपति वानर हैं, वे कुछ कह नहीं सकते, प्रेमवश नेत्रोंमें जल भर-भरकर नेत्रोंका पलक मारना छोड़कर टकटकी लगाये श्रीरामजीकी ओर सम्मुख देख रहे हैं॥११७॥

नोट—१ *'नयन निमेष निवारि'* इति। पं०—नेत्रोंके पलक गिरने नहीं देते, पलक मारना छोड़ एकटक देख अपना प्रेम दर्शित करते हुए सङ्ग ले चलनेकी प्रार्थना जना रहे हैं। ☞वाल्मी० और अ० रा० में सुग्रीव और विभीषणने हाथ जोड़कर साथ ले जानेकी प्रार्थना की है, यथा—'**अयोध्यां गन्तुमिच्छामः सर्वान् नयतु नो भवान्।**' (वाल्मी० १२२। १९)। अर्थात् हम सब लोग आपके साथ अयोध्याजी चलनेकी इच्छा करते हैं। पर मानसके अंदर उनकी दशामें वाणीसे भी अधिक शक्ति है।

अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥१॥
मन महुँ बिप्रचरन सिरु नायो। उत्तर दिसिहिं बिमान चलायो॥२॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने उनका अतिशय प्रेम देखकर सबको विमानपर चढ़ा लिया॥ १॥ तदनन्तर विप्रचरणको मन-ही-मन प्रणाम किया और उत्तर दिशाको विमान चलाया॥ २॥

नोट—१ *'लीन्हें सकल.........।'* यथा—'**क्षिप्रमारोह सुग्रीव विमानं सह वानरैः। त्वमप्यारोह सामात्यो राक्षसेन्द्र विभीषण॥, 'तेष्वारूढेषु सर्वेषु कौबेरं परमासनम्। राघवेणाभ्यनुज्ञातमुत्पपात विहायसम्॥**' (वाल्मी० १२२। २३, २५) अर्थात् हे सुग्रीव! वानरोंसहित आप तथा मन्त्रियोंसहित विभीषणजी विमानपर चढ़ आइये। सबके सवार हो जानेपर कुबेरजीका उत्तम विमान श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर ऊपर उठा।

नोट—२ *'सकल'*। अर्थात् *'कपिपति नील रीछपति.........।'* इत्यादिको जिन्हें पीछे कह आये हैं। पुनः, वाल्मीकीयमें सबको साथ लेना लिखा है वह भाव भी *'सकल'* पदमें आ जाता है। इस तरह कि पहले वे सब चले पर इनको विमानपर जाते हुए देख वे भी लौट पड़े हों, यह सम्भव हो सकता है। नोट—३ *बिप्रचरन—'बिप्रचरन पंकज सिरु नावा।'* दोहा ८९ (१) देखिये।

☞ विमान कुबेरका था, उनको न देकर रघुनाथजीको समर्पण करनेका कारण स्पष्ट ही है। प्रभुकी करुणार्द्र भ्रातृस्नेहमें पगी हुई वाणी, *'बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावौं बीर।', 'देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरौं तोहि॥'* को सुनकर विभीषण सखाका परम कर्तव्य था कि वे उनको अयोध्याजी शीघ्र पहुँचा दें और पुष्पक-विमान प्रभुके आगे लाकर उन्होंने अपने कर्तव्यका यथोचित पालन किया। पर रघुनाथजी कब परायी वस्तुको, जो दूसरेकी आत्माको क्लेश पहुँचाकर रावणने प्राप्त की थी, ग्रहण करनेवाले थे। इन्होंने देवकार्य कर परम प्रिय भरतके प्राणोंकी रक्षाके लिये तुरंत पहुँचनेके लिये विमानकी सहायता ली और कार्य पूर्ण होते ही तुरंत उसे कुबेरके पास भेज दिया।

'पुनि पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता.........।' प्रकरण समाप्त हुआ।

---

* जामवंत कपिराज नल अंगदादि हनुमान—(का० पं०)

'जेहि बिधि राम नगर निज आए'—प्रकरण

चलत बिमान कोलाहल होई। जय रघुबीर कहै सब कोई॥ ३॥
सिंघासन अति उच्च मनोहर। श्रीसमेत प्रभु बैठे ता पर॥ ४॥

अर्थ—विमानके चलते समय बड़ा शोर हो रहा है। सब कोई 'रघुवीरकी जय' ऐसा कह रहे हैं॥ ३॥ पुष्पक-विमानके अत्यन्त ऊँचे और मनको हरनेवाले सिंहासनपर प्रभु श्रीसीताजीसहित विराजमान हो गये॥ ४॥

रा० प्र०—*'कोलाहल'* जय शब्दका है। सब जय-जयकार कर रहे हैं, इसीसे शब्द दूरतक आकाशमें गूँज रहा है। पुनः, गरुड़पक्षकी रीतिसे विमानसे सामध्वनि निकल रही है, उससे भी कोलाहल हो रहा है। *'सब कोई'* का भाव कि वानरादिके अतिरिक्त देवतादि जो आये थे एवं जो निशिचर लङ्कामें थे उनको भी सूचित कर दिया।

पु० रा० कु०—*'सिंहासन अति उच्च।'* यह सिंहासन विमानपर है। राजाके लिये जो आसन होता है वही सिंहासन है, यथा—**'नृपासनं यत्तद्भद्रासनं सिंहासनं तु तत्।'** (अमरकोश)

नोट—कहा जाता है कि श्रीलक्ष्मणजी श्रीरघुनाथजीके पीछे खड़े रहे, इसीसे उनका बैठना नहीं कहा गया। उनका आसन खाली रहा।

करु०—विमानमें तीन खण्ड हैं। अन्तर-खण्ड हेमरत्नसे प्रकाशित है, सिंहासन सूर्य इव प्रकाशित है। यह अष्टदल-कमलके आकारका है। इसपर श्रीजानकीजी संयुक्त श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं। लक्ष्मणजी और हनुमान्‌जी चमर करते हैं। १८ पद्म यूथपति मध्य खण्डमें हैं और शेष सेना बाहरके खण्डमें है।

राजत राम सहित भामिनी। मेरुसृंग जनु घनु दामिनी॥ ५॥
रुचिर बिमान चलेउ अति आतुर। कीन्हीं सुमन बृष्टि हरषे सुर॥ ६॥

अर्थ—पत्नीसहित श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, मानो सुमेरु शिखरपर श्याम मेघ बिजलीसहित शोभित हैं॥ ५॥ सुन्दर विमान अत्यन्त शीघ्रतासे चला। देवता प्रसन्न हुए और पुष्पोंकी वर्षा की॥ ६॥

नोट—१—*'भामिनी'* यहाँ साभिप्राय है। अर्थात् दीप्तिवाली जो श्रीसीताजी हैं। इसीसे *'दामिनी'* की उत्प्रेक्षा की गयी। मेरु स्वर्णका और पुष्पक भी सोनेका, यह दोनोंमें समता है। यहाँ पुष्पक सुमेरु है; पुष्पकपर जो सिंहासन है वह सुमेरुका शृङ्ग है। श्यामवर्ण श्रीरामजी घन हैं और दामिनी वर्ण श्रीसीताजी दामिनी हैं। बिजली एक जगह स्थिर होकर नहीं रहती, यथा—*'दामिनी दमक रह न घन माहीं';* पर यहाँ दोनों ऐसे दीखते हैं मानो बिजली स्थिर होकर मेघके साथ विराजमान है। यह 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। २—*'रुचिर बिमान'* इति। वाल्मी० यु० १२१ श्लोक २४—३०, वाल्मी० उ० १५ श्लोक ३६—३९ और वाल्मी० उ० २१। २७ में इसका वर्णन इस प्रकार है—इस विमानके सब स्तम्भ सुवर्णके बने थे और वैदूर्यमणिके तोरण (द्वार) लगे हुए थे। मोतियोंकी झालरें लगी थीं एवं मोतियोंके जालसे यह ढका हुआ था। सर्वकालमें फल देनेवाले वृक्ष इसमें लगे थे। यह मनोवेगके समान और कामग कामरूपी विहङ्गमके समान वेगसे आकाशमें चलनेवाला था। इसमें मणिजटित सुवर्णकी सीढ़ियाँ थीं। वेदियाँ तपाये हुए खरे सोने और वैदूर्यमणियोंकी बनी थीं। नाना प्रकारके शालागृह चाँदीके-से दीप्तिमान् बने थे। वह विमान सदा देवताओंके ही चढ़नेके योग्य था और उसमें उनके योग्य सब पदार्थ थे, ऋषि-मुनि आदि सब देखनेवालोंको यह सदा-सुखदायी था। इसपरके सब पदार्थ अक्षय थे। इसमें रखे हुए सभी पदार्थ आश्चर्ययुक्त थे। नाना प्रकारकी रचनाओंसे युक्त इसे ब्रह्माजीने निर्माण किया और विश्वकर्मासे बनवाया था। सब कामनाओंका देनेवाला, मनोहर और श्रेष्ठ था। सब ऋतुओंमें सुखद था। यह विमान देवताओंके अधिष्ठान और ब्रह्मतेजसे अक्षय था। इस कारण यमदूतोंके तोड़नेपर भी वह ज्यों-का-त्यों फिर नया हो जाता था—(रावण-यमराज-युद्धमें यमदूतोंने इसपर अस्त्र-शस्त्र चलाये

थे)। चाँदीके समान कान्तिवाले श्वेत ध्वजा-पताकाओंसे अलङ्कृत, कनककमलविभूषित, कञ्चनकी अटा-अटारियोंसे संयुक्त, किङ्किणीजाल लगे हुए थे। स्थान-स्थानपर मधुर शब्द करनेवाले घण्टे लगे थे। यह सुमेरुशिखरसमान आकारवाला था। नीचेकी गच स्फटिक मणिकी थी। [नोट—यह विमान इच्छानुसार छोटा-बड़ा हो जाता था। कहते हैं कि जबतक इसमें एक भी प्राणी खड़ा रहता था तबतक इसमें एक बैठक बराबर खाली रहती थी।]

प० प० प्र०—*'राजत राम………'* में मात्राओंकी कमीसे जनाया कि युगलछबिके दर्शन करनेवाले सभी प्रेममें मग्न हो गये तथा श्रीसीताजी अत्यन्त प्रसन्न हुईं।

परम सुखद चलि त्रिबिध बयारी। सागर सर सरि निर्मल बारी॥ ७॥
सगुन होहिं सुंदर चहुँ पासा। मन प्रसन्न निर्मल नभ आसा॥ ८॥

शब्दार्थ—**पासा**=ओर, दिशा, यथा—*'नगर सँवारहुँ चारिहु पासा'* (बा० २८६)

अर्थ—अत्यन्त सुख देनेवाली तीनों प्रकारकी (शीतल, मन्द, सुगन्धित) वायु चल रही है। समुद्र, तालाब और नदियोंका जल निर्मल हो गया। चारों दिशाओंमें सगुन हो रहे हैं, सबके मन प्रसन्न हैं, आकाश और दिशाएँ निर्मल हैं॥ ७-८॥*

कह रघुबीर देखु रन सीता। लछिमन इहाँ हत्यो इंद्रजीता॥ ९॥
हनूमान अंगद के मारे। रन महि परे निसाचर भारे॥ १०॥
कुंभकरन रावन द्वौ भाई। इहाँ हते सुर मुनि दुखदाई॥ ११॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजी बोले—हे सीते! रणभूमि देखो। यहाँ लक्ष्मणने इन्द्रके जीतनेवाले मेघनादको मारा॥ ९॥ श्रीहनुमान् और अङ्गदजीके मारे हुए (ये) भारी-भारी राक्षस रणभूमिमें पड़े हैं॥ १०॥ सुरमुनिको दुःख देनेवाले कुम्भकर्ण और रावण दोनों भाई यहाँ मारे गये॥ ११॥

नोट—१ श्रीलक्ष्मण, हनुमान् और अङ्गदजीके नाम लेकर उनकी प्रशंसा की। अपने मुख अपनी प्रशंसा करना निन्दित है, अतः रावण-कुम्भकर्णका वधमात्र कहा। यह न कहा कि मैंने इनको मारा; क्योंकि अपना नाम लेनेसे आत्मश्लाघा स्पष्ट जान पड़ती।—हनुमन्नाटकमें लिखा है कि प्रभुने कहा कि यहाँ किसीने रावणको मारा (ऐसे अभिमानशून्य हैं)। यथा '………**ततो राम आत्मानं पुष्पकविमाने जानकीं चारोप्य समरभूमिं दर्शयति। प्रियजानकि पश्य**'।………**दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः। केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी॥**' (हनु० १४। ६०) अर्थात् जानकीजीको पुष्पक-विमानपर चढ़ाकर उन्हें रणभूमि दिखाते हैं। हे जानकी! देखो। यहाँ इन्द्रविजयी मेघनाद लक्ष्मणजीके दिव्य बाणोंसे परलोकको प्राप्त हुआ। हे मृगनयनी! यहाँ किसीने रावणके कण्ठ-वनका छेदन किया था।

अ० रा० के श्रीरामजीने तो स्वयं रावणको मारना कहा है और किसीका नाम नहीं लिया। यथा '**अत्र मे निहतः शेते रावणो राक्षसेश्वरः॥ कुम्भकर्णेन्द्रजिन्मुख्याः सर्वे चात्र निपातिताः।**' (१४। ३। ४)

नोट—२ *'हनूमान अंगद'* इति। यह श्रीहनुमान्‌जीको प्रथम कहकर जनाया कि सबसे अधिक संख्यामें इन्होंने निशिचरोंको मारा है।

रा० प्र०—पहले तो कहा कि उत्तर दिशाको विमान चला, तब 'निकुंभिला' आदि स्थानोंमें *'इहाँ हते'* कैसे कहा? समाधान यह है कि वायुमण्डलमें विमान चला, उसका तिरछा चलना स्वभाव है। पक्षीकी तरह ऊपरको उड़ा। गिरनेके भयसे पक्षी 'मंडलिहि' उड़ता है। ***'सर्परीति ह्वै कुंडली रहत गगन के माहिं। याहीते खगमंडली चढ़त गगन चित चाहि॥ यहै बीज टेढ़े चलन मध्य हृदय अवगाहि। वैशेषिक टीका सहित लिख्यो***

* 'ततः प्रजग्मुः प्रशमं मरुद्गणा दिशः प्रसेदुर्विमलं नभोऽभवत्। मही चकम्पे न च मारुतो ववौ स्थिरप्रभश्चाप्यभवद्दिवाकरः॥' (वाल्मी० १०८। ३२)

मन्त्र चित चाहि॥' (रा० प्र०) इस प्रकार पूर्व होकर दक्षिण-पश्चिम होता हुआ फिर उत्तरको चला।

दो०—इहाँ सेतु बाँध्यो अरु थापेउँ* सिव सुख धाम।
सीता सहित कृपानिधि† संभुहि कीन्ह प्रनाम॥
जहँ जहँ कृपासिंधु बन कीन्ह बास बिश्राम।
सकल देखाए जानकिहि कहे सबन्हि के नाम॥११८॥

अर्थ—यहाँ पुल बाँधा और सुखके स्थान शिवजीकी स्थापना की, (यह कहकर) कृपानिधान श्रीरामजीने सीतासहित रामेश्वर महादेवको प्रणाम किया। जहाँ-जहाँ वनमें करुणासागर श्रीरामचन्द्रजीने वास या विश्राम किया वह सब स्थान श्रीजानकीजीको दिखाये और सबके नाम कहे॥ ११८॥

नोट—१ (क) *'थापेउँ सिव'* ऐसा ही अ० रा० में कहा है। यथा **'एतत्पवित्रं परमं दर्शनात्पातकापहम्। अत्र रामेश्वरो देवो मया शम्भुः प्रतिष्ठितः।'** (अ० रा० १४। ६)

(ख)—*'सुखधाम'* से जनाया कि इनके पूजनसे सुख-सम्पदाकी प्राप्ति होती है, क्योंकि वे स्वयं सुखके रूप हैं, इनके द्रोहीको सुख नहीं मिलता। यथा—*'जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही।'* (कि० १७। ५)

रा० प्र०—१ सच्चिदानन्दब्रह्मके तीन रूप—सत्-चित्-आनन्द क्रमसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। अतएव यहाँ शिवजीको *'सुखधाम'* अर्थात् आनन्दरूप विशेषण दिया। आनन्द इन्हींके हिस्सेमें पड़ा। २—कृपायतन-(कृपासिन्धु-) का भाव कि ऐसे कृपालु कि जिन्होंने विरोध किया उनको भी मुनिदुर्लभ गति दी।—[रामेश्वर-स्थापनसे सब प्राणियोंपर एवं शिवजीपर कृपा की। पुनः, जहाँ-जहाँ वास या विश्राम किया वह केवल कृपाके ही कारण। शबरीजीके यहाँ, पम्पासर और समुद्रतटपर विश्राम किया। किष्किन्धामें वास किया। इसमें केवल कृपा ही कारण है; नहीं तो शबरीके यहाँ क्यों जाते? पम्पासरपर नारदको सुख क्यों देते? किष्किन्धामें चौमासेभर क्यों ठहरते?]

३—रामेश्वर-स्थापनके समय वानर, विभीषण और सुग्रीव सब थे, श्रीजानकीजी न थीं; इसीसे यहाँ *'सीता सहित'* ही पद ग्रन्थकार देते चले जा रहे हैं और इन्हींको सम्बोधन किया है।—(बं० पा०—रामेश्वरजीके निकट न गये; क्योंकि लङ्कामें शिवजीकी विदाई कर चुके हैं।)

तुरत‡ बिमान तहाँ चलि आवा। दंडक बन जहँ परम सुहावा॥१॥
कुंभजादि मुनिनायक नाना। गए रामु सबु के अस्थाना॥२॥

अर्थ—विमान चलकर बड़ी शीघ्रतासे वहाँ आ पहुँचा जहाँ परम सुहावन दण्डकवन है और अगस्त्य आदि अनेक मुनिश्रेष्ठ रहते हैं। श्रीरामचन्द्रजी इन सबके आश्रमोंमें गये॥ १-२॥

नोट—१ यहाँ विमानका अत्यन्त वेग प्रसङ्गसे ही बताते जा रहे हैं। जितनी देरमें एक बात कहते हैं उतनी ही देरमें दूसरा स्थान आ जाता है। मेघनादके वधका स्थान दिखा रहे थे कि इतनेमें ही वह रणभूमि आ गयी जहाँ हनुमान् और अङ्गदके मारे हुए अनेक वीर राक्षस पड़े हुए थे। इसको दिखाते थे कि कुम्भकर्णका और रावणका वध जहाँ-जहाँ हुआ वे स्थान आ गये और उसको दिखा रहे थे कि सेतुबंध रामेश्वरपर पहुँच गये। नोट—२ *'परम सुहावा'।* प्रभुके निवासके पूर्व दण्डकवन महाभयावन था पर उनके निवाससे एवं खरदूषणादिके वधसे सारा वन परमसुहावन हो गया था; अब वहाँ ऋषि भी निर्भय वास करते हैं। यथा—*'जब तें राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥ गिरि बन नदी ताल छबि छाए। दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए॥'* (आ० १४) पूर्व दिन-दिन *'अति सुहाये'* होते गये थे और अब प्रभुके आगमनपर *'परम सुहाए'* हो गये।

* 'यह देपु सुंदर सेतु जहँ थापेउ'। † कृपायतन—(का०, पं०)। ‡ सपदि—[रा० गु० द्वि०, का०]। तुरत—(भा० दा०)।

सकल रिषिन्ह सन पाइ असीसा। चित्रकूट आएउ जगदीसा॥ ३॥
तहँ करि मुनिन्ह केर संतोषा। चला बिमानु तहाँ ते चोखा॥ ४॥
बहुरि राम जानकिहि देखाई। जमुना कलिमल-हरनि सोहाई॥ ५॥
पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता॥ ६॥

अर्थ—समस्त ऋषियोंसे आशीर्वाद पाकर जगत्पति रामचन्द्रजी चित्रकूट आये॥ ३॥ वहाँ मुनियोंको संतुष्ट किया फिर वहाँसे विमान और अधिक वेगसे चला॥ ४॥ फिर श्रीरामजीने जानकीजीको कलिके पापोंको नाश करनेवाली सुन्दर यमुनाजीके दर्शन कराये॥ ५॥ फिर पवित्र देवनदी गङ्गाको देखकर रामचन्द्रजीने कहा—हे सीते! श्रीगङ्गाजीको प्रणाम करो॥ ६॥

पं०—यमुनाको दिखाकर प्रणाम करना न कहा और गङ्गाको प्रणाम करनेको कहा, यह बात नहीं है। यहाँ *'राम कहा प्रनाम करु सीता'* यह अन्तमें देकर इसे दोनोंके साथ जनाया। अथवा, प्रथम बार वनगमन समय गङ्गाजीसे मान्यता मानी थी। प्रणाम करनेको कहकर उसका स्मरण कराया।

☞**'एषा सा यमुना रम्या दृश्यते चित्रकानना।'** (५०) **'""इयं च दृश्यते गङ्गा पुण्या त्रिपथगा नदी।'** वाल्मी० १२३। ५१। वाल्मी० रा० के इस श्लोकके *'रम्या'* और *'चित्रकानना'* का भाव *'सोहाई'* पदसे और *'त्रिपथगापुण्या'* का भाव *'सुरसरी पुनीता'* पदसे जनाया।

तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। निरखत* जन्म कोटि अघ भागा॥ ७॥
देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरिलोक निसेनी॥ ८॥
पुनि देखु अवध पुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भवरोग नसावनि॥ ९॥

अर्थ—फिर तीर्थराज प्रयागको देखो, जिसके दर्शनमात्रसे करोड़ों जन्मोंके पाप भाग जाते हैं॥ ७॥ फिर परम पवित्र त्रिवेणीजीका दर्शन करो जो शोकोंकी हरनेवाली और हरिलोक-(तक पहुँचने-) की सीढ़ी है॥ ८॥ पुनः, अत्यन्त पावनी अवधपुरीका दर्शन करो जो तीनों प्रकारके (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों और भवरोगोंकी नाशक है॥ ९॥

नोट—१ *'निरखत'* का भाव कि दर्शनमात्रका यह महत्त्व है तब मज्जन-स्पर्श-पानादिकी महिमा कैसे कही जा सकती है? (रा० प्र०) नोट—२ *'हरनि सोक हरिलोक निसेनी।'* बिना हरि-प्राप्तिके शोक नहीं दूर होता अत: *'हरनि सोक'* कहकर *'हरिलोक निसेनी'* भी कहा। नोट—३ *'अति पावनि'।* क्रमशः पवित्रता कहते आये। अन्तमें इसको *'अतिपावनि'* कहा। यमुनाजीको *'कलिमल हरनि सुहाई'*, गङ्गाजीको *'पुनीता'*, प्रयागराजको *'देखत जन्म कोटि अघ भागा'*, त्रिवेणीको *'परम पावनि'* और *'हरनि सोक हरिलोक निसेनी'* विशेषण दिये। उत्तरोत्तर एकसे दूसरेको अधिक कहा और अन्तमें अवधपुरीको *'अति पावनि'*, *'त्रिबिध ताप भवरोग नसावनि'* कहा।

वि० त्रि०—त्रिवेणीको दिखलानेके पश्चात् और त्रिवेणीतक पहुँचनेके पूर्व ही विमानसे श्रीअयोध्याजी दिखायी पड़ी, इससे समझा जा सकता है कि विमान कितनी ऊँचाईसे जा रहा था। जब श्रीरामजीने सीताजीको दिखाया तब श्रीसीतासहित उन्होंने श्रीअवधको प्रणाम किया। उसके बाद त्रिवेणीमें आकर स्नान किया।

दो०—सीतासहित अवध कहुँ कीन्ह कृपाल प्रनाम।
सजल नयन तन पुलकित पुनि पुनि हरषित राम†॥ ११९॥

अर्थ—यह कहकर कृपालु श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसीतासहित अवधपुरीको प्रणाम किया। उनके नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर रोमाञ्चित हो गया और वे बारंबार हर्षित (आनन्दित) हो रहे हैं॥ ११९॥

नोट—☞ जब रथपर चढ़कर अवधसे चले थे तब भी अवधको प्रणाम किया था, यथा—*'चढ़ि*

* देषत—(का० पं०)।

† 'तब रघुनायक श्री सहित अवधहि कीन्ह प्रणाम। सजल विलोचन पुलकतन पुनि पुनि हरषत राम।'—(का०)

रथ सीयसहित दोउ भाई। चले हृदय अवधहि सिरु नाई॥' (अ० ८३) (२)। और अब लौटनेपर भी प्रणाम किया। *'चले हृदय अवधहि सिरु नाई'* उपक्रम है और यहाँ उपसंहार है। नोट—२ पूर्व हृदयमें प्रणाम किया था, प्रकट नहीं और अब प्रत्यक्ष प्रणाम है इसीसे पूर्वका 'हृदय' शब्द यहाँ नहीं दिया गया। पूर्व प्रकट प्रणाम न करनेका भाव वहाँ लिखा जा चुका है। अब कोई शंका नहीं है, अतः अब प्रकट प्रणाम किया। लौटती बार भी प्रणाम करनेसे यह निस्संदेह स्पष्ट हो गया कि अवधपुरीका महत्त्व समझकर उसको प्रणाम किया था। क्या महत्त्व है यह ऊपर कह आये हैं। नोट—३ *'कृपाल'* विशेषणका भाव कि अवधमात्रपर आप कृपा करनेके लिये आ रहे हैं तथा प्रणाम करके इसका महत्त्व सबको बता रहे हैं। नोट—४ *'सजल नयन तन पुलकित'''''''।'* अवधपुरीको बहुत वर्षोंके पश्चात् देखनेसे प्रेम उमड़ आया। जन्मभूमिको देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। जिससे नेत्रोंमें जल भर आया और शरीर पुलकित हो रहा है। पुनः, इसे देखकर भरतजी और नगर-निवासियोंका प्रेम एवं उनकी दशा स्मरण हो आयी; अतः यह दशा हुई।

☞ दण्डकारण्यमें श्रीरामजीका दर्शन होनेपर जो आनन्द श्रीशिवजीको हुआ, यथा—*'संभु समय तेहि रामहिं देखा। उपजा हिय अति हरषु बिसेषा॥'''''''चले जात सिव सती समेता। पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥'* (१। ५०। १, ४) वही दशा श्रीअयोध्यापुरीके दर्शनसे श्रीरामजीकी हो रही है—*'तन पुलकित पुनि पुनि हर्षित राम।'* प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि श्रीशिवजीने वहाँ पार्वतीजीसे पुलकादिका कारण बताया है कि ये ही श्रीराम मेरे इष्टदेव हैं—*'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।'* (१। ५१। ८) अतः यहाँ वही आनन्दकी दशा लिखकर जनाया कि अपने इष्टदेव भगवान्‌का दर्शन करके शिवजीको जो अनन्द हुआ वैसे ही अवधके दर्शनसे श्रीरामजीको। शिवजीको दूरसे दर्शनमें जो आनन्द हुआ वही आनन्द श्रीरामजीको भी दूरसे दर्शनमें हुआ।

रा० प्र०—सीतासहित प्रणाम करनेका भाव यह है कि विवाह प्रतिज्ञानुसार सब जगह स्त्रीसहित शुभकार्य करना विधि है।

दो०—पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी* हरषित मज्जनु कीन्ह।
कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहुँ† दान बिबिध बिधि दीन्ह॥ ११९॥

अर्थ—फिर त्रिवेणीपर आकर प्रभुने प्रसन्नतापूर्वक वानरोंसहित स्नान किया और वानरोंसहित ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दिये॥ ११९॥

नोट—१ *'हरषित मज्जनु कीन्ह'*—तीर्थमें उत्साहपूर्वक स्नान करना चाहिये। इसीसे अयोध्यासे जब प्रयाग गये थे तब भी हर्षपूर्वक स्नान कहा है। यथा—*'एहि बिधि जाइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी॥ मुदित नहाइ'''''''।'* (२। १०६)

नोट—२ *'दान बिबिध बिधि दीन्ह'* इति। ☞ श्रीकरुणासिंधुजीका मत है कि विभीषणने जो रत्न वानरोंको दिये थे वे ही रत्न दानमें उन्होंने ब्राह्मणोंको दिया, पर अन्य लोगोंका मत है कि श्रीरघुनाथजीने ही अपने पाससे सबको देकर दान कराया। आ० रा० का प्रमाण रामेश्वर-स्थापना-प्रसंगमें दिया जा चुका है। अथवा, प्रभु संकल्प-सिद्ध हैं; जितना चाहें दानके लिये वस्तु प्रकट कर लें। किसी-किसीका मत है कि संकल्प कर दिया कि अवधमें आकर ले लें। पर यहाँ *'दीन्ह'* शब्द इस भावका निषेध करता है।

जब प्रभु विश्वामित्रजीके साथ जनकपुरको जा रहे थे, उस समय भी गङ्गास्नानके समय प्रभुका ऋषियोंसहित स्नान करना और दानका दिया जाना कहा गया है। यथा—*'तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए। बिबिध दान महिदेवन्हि पाए॥'* (१। २१२। ३) वहाँ *'महिदेवन्हि पाए'* शब्द हैं और यहाँ *'बिप्रन्ह कहँ दीन्ह'* कहते हैं। *'पाए'* और *'दीन्ह'* शब्दोंके भेदका भाव वहाँ लिखा गया है। पाठक वहाँ देख लें।

प्र० स्वामीका मत है कि श्रीरामजीके साथ श्रीसीताजी हैं। उनके ऋद्धि-सिद्धियोंके स्मरणमात्रसे जितनी

* 'बहुरि त्रिवेनी आय प्रभु'।

† 'कपिन्ह समेत महीसुरन्ह'—(रा० प०, पं०)।

सम्पत्ति चाहें प्राप्त हो सकती है। (श्रीजनकपुरमें बारातके पहुँचनेपर यह महिमा दिखायी गयी है।) यथा—*'जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥ हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप पहुनई करन पठाई॥ सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास। लिए संपदा सकल सुख सुरपुर भोग बिलास॥'* (१। ३०६) *'.........बिभव भेद कछु कोउ न जाना।'* केवटको देनेके लिये भी श्रीसीताजीने ही *'मनि मुदरी मन मुदित उतारी'* थी। पर इस समय श्रीसीताजीके शरीरपरके आभूषणोंको उतारकर देनेमें विभीषणादिको दु:ख होता; अत: उनका दिया जाना भी असंगत होगा।

नोट—३ श्रीविभीषणादि सभी जानते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी भुवनेश्वर हैं, ब्रह्म हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिसे सेवित हैं और श्रीसीताजी उनकी परम शक्ति हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष देखा भी कि रावणवधपर ब्रह्मादि सब देवताओंने आकर इनकी स्तुति कर-करके भक्तिका वर माँगा है। अब इनका ऐश्वर्य गुप्त नहीं रह गया। रावणने नरके हाथ मृत्यु माँगी थी। ब्रह्माके वचनको सत्य करनेके लिये और रावणको सन्देहमें रखनेके लिये उसके वधतक वे नरनाट्य करते हुए ऐश्वर्यको छिपाये रहे, वह कार्य अब पूरा हो गया। अत: ऐसा माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है कि यहाँ उन्होंने सङ्कल्पमात्रसे दानकी सब वस्तुएँ वहीं प्रकट कर दीं और दान पानेवालोंको इस रहस्यका भान भी नहीं हुआ।

प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई। धरि बटु रूप अवधपुर जाई॥ १॥
भरतहि कुसल हमार सुनाएहु। समाचार लै तुम्ह चलि आएहु॥ २॥

अर्थ—तदनन्तर प्रभुने हनुमान्‌जीसे समझाकर कहा कि तुम ब्रह्मचारीका रूप धरकर, अवधपुर जाकर, श्रीभरतजीसे हमारा कुशल सुनाना और उनका समाचार लेकर चले आना॥ १-२॥

नोट—१ वाल्मी० १२४। १७ में उल्लेख है कि भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचनेपर उन्होंने प्रभुसे कहा कि आप समाजसहित हमारे दिये हुए अर्घ्यपाद्यादि ग्रहण करें, कल अयोध्याको चले जायँ। इसीसे वहींसे हनुमान्‌जीको उन्होंने अयोध्याजी भेजा। पर मानसमें भरद्वाज-आश्रममें जानेके पूर्व ही श्रीरघुनाथजीने इनको भेजा है।

नोट—२ पाण्डेजी कहते हैं कि *'बुझाई'* का आशय है कि यदि भरतजीका मन राज्यमें लग गया हो तो हम अवध न जावें। वीरकविजी भी लिखते हैं कि यहाँ *'बुझाई'* शब्दमें व्यङ्ग है कि जाकर देखना, ऐश्वर्यसम्पन्न बाप-दादोंका राज्य किसके मनको नहीं बिगाड़ता? सङ्गवश भरत राज्यार्थी तो नहीं हो गये? यह भाव वाल्मीकीय आदि अन्य रामायणोंसे भले ही निकलता हो पर मानसकारका यह भाव कभी नहीं जान पड़ता; क्योंकि यहाँ तो भरत 'रामप्रेममूर्त्ति' वर्णन किये गये हैं, श्रीरामजी उनका प्रेम भलीभाँति जानते हैं और हनुमान्‌जीसे भी द्रोणाचल ले जानेपर अवश्य ही उनकी रहनी भी सुन चुके हैं, लक्ष्मणजीको भी प्रभुने भरतजीके सम्बन्धमें अपना अटल विश्वास सुनाया था—इत्यादिसे श्रीरामजीका उनकी ओरसे सन्देह स्वप्नमें भी मानने योग्य नहीं है। ऐसा होता तो विभीषणसे श्रीभरतजीकी दशा क्यों कहते, वहींसे प्रथम समाचार मँगा लेते। आदिसे अन्ततक कहीं भी श्रीरामजीका श्रीभरतजीपर संदेह देखनेमें नहीं आता। मानसके भरतजी और वाल्मीकिके भरतजीमें बड़ा अन्तर है। यह बात चित्रकूटके दरबारसे निर्विवाद सिद्ध है। शृङ्गवेरपुर जाना, निषादराजको भी समाचार देना, फिर तुरंत ही अवधपुरी अवधि व्यतीत होनेके पूर्व ही पहुँचना और अरण्यकाण्डसे लेकर अबतकका चरित कहना एवं भरद्वाज या निषादराजके यहाँ फिर लौटकर मिलना यह सब वृत्तान्त *'बुझाई'* शब्दमें आ गये। भरतजीकी दशा भी जना दी कि शीघ्र न पहुँचनेसे काम बिगड़ जायगा। यह भी *'बुझाई'* पदमें आ गया।—हाँ, यह कविका कौशल है कि उन्होंने *'बुझाई'* ऐसा पर देकर अन्य लोगोंके मतोंको भी उसमें स्थान दे दिया है।

प० पु० पातालखण्डमें शेषजीने जो वात्स्यायन मुनिसे कहा है वह मानसके अनुकूल है। अत: हम उसे यहाँ उद्‌धृत किये देते हैं—श्रीअवधपुरी-(नन्दिग्राम-) पर दृष्टि पड़ते ही श्रीरघुनाथजीको धर्मात्माओंमें अग्रगण्य भाई भरतकी बारम्बार सुध आने लगी। तब वे वायुनन्दन हनुमान्‌जीसे बोले—वीर! तुम मेरे भाईके पास जाओ।

उनका शरीर मेरे वियोगसे क्षीण होकर छड़ीके समान दुबला-पतला हो गया है और वे उसे किसी प्रकार हठपूर्वक धारण किये हुए हैं। जो वल्कल पहनते हैं, मस्तकपर जटा धारण करते हैं, जिनकी दृष्टिमें परस्त्री माता और सुवर्ण मिट्टीके ढेलेके समान है, वे मेरे धर्मज्ञ भ्राता दुःखी हैं। उनका शरीर मेरे वियोगजनित दुःखरूप अग्निकी ज्वालामें दग्ध हो रहा है। अतः इस समय तुम तुरन्त जाकर मेरे आगमनके सन्देशरूपी जलकी वर्षासे उन्हें शान्त करो। उन्हें यह समाचार सुनाओ कि 'सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव आदि कपीश्वरों तथा विभीषणसहित तुम्हारे भाई श्रीराम पुष्पकविमानपर बैठकर सुखपूर्वक आ पहुँचे हैं।' इससे मेरा आगमन जानकर मेरे छोटे भाई भरत शीघ्र ही प्रसन्न हो जायँगे।' यह सब *'बुझाई'* में आ जाता है।

नोट—३ *'धरि बटु रूप अवधपुर जाई।'* इति। बटुरूप धारण करके जानेको कहनेका भाव यह है कि—(१) श्रीभरतजी हनुमान्‌जीको पूर्व देख चुके हैं और उनसे लक्ष्मणजीका शक्तिद्वारा मूर्छित होना भी सुन चुके हैं, अब यदि ये अपने रूपसे उनके पास गये तो विरहमें निमग्न दशामें इनको बिना श्रीरामजीके अकेला आया हुआ देख व्याकुलतामें प्राण न छोड़ दें। अतः वेष बदलकर जानेको कहा। (२) हनुमान्‌जी बटुरूप धारण करनेमें बड़े कुशल हैं। यह बात इससे सिद्ध होती है कि सुग्रीवने भी इन्हें बटुरूप धारण कराके श्रीरामजीके पास भेजा था—*'धरि बटु रूप देखु तैं जाई।'* प्रभु इनके उस रूपको देख भी चुके हैं। पुनः, लङ्कामें विभीषणजीसे प्रथम भेंट होनेपर भी इन्होंने यही रूप धारण किया था, यथा—*'बिप्ररूप धरि बचन सुनावा।'* अतः यही रूप धारण करनेको कहा। पुनः, (३) परम मङ्गल समाचार देना है, एवं शुभ शकुन भी जनाना है, अतः मङ्गल बटुरूप धारण करनेको कहा।

नोट—४ *'कुसल हमार'* इति। बटुरूपसे जा रहे हैं, इससे अपनी कुशलमें सारी रामायण अरण्यसे लेकर यहाँतककी कहनेको कहा। नहीं तो द्रोणाचल लानेपर शक्तिप्रसङ्गतक तो पूर्व कह ही चुके थे। 'हमारा' बहुवचन शब्दसे अपना, लक्ष्मणजीका और श्रीसीताजी तथा सब सहायकोंका कुशल-समाचार कहनेका संकेत कर दिया।

नोट—५ *'समाचार लै'* अर्थात् भाइयों, माताओं आदिका कुशल उनकी हमारे दर्शनोंकी लालसा इत्यादि समाचार। इस शब्दसे वाल्मी० में दिये हुए भाव भी निकल सकते हैं।* पर मानसके अयोध्याकाण्डके विचारोंसे विरोध पड़ेगा।

नोट—६ *'चलि आएहु'* अर्थात् तुम वहाँ रह न जाना, लौटकर चले आना, तब हम सब यहाँसे चलेंगे। हनुमान्‌जीको प्रथम ही भेजनेका कारण यह है कि प्रभु बिना पूर्ण १४ वर्ष बीते पुरीमें न जायँगे और उधर भरतजी मार्ग जोह रहे हैं, अवधिकी समाप्ति हुई नहीं कि वे अग्निमें प्रवेश कर जायँगे, एक क्षणका विलम्ब भी नहीं सह सकते—(आ० रा० १। १२। ६६—७५)। हनुमान्‌जीके प्रथम पहुँचकर समाचार मिल जानेसे अनिष्टकी शङ्का जाती रहेगी।

तुरत पवनसुत गवनत भयऊ। तब प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ॥ ३॥
नाना बिधि मुनि पूजा कीन्ही। अस्तुति करि पुनि आसिष दीन्ही॥ ४॥

* 'एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः। स च ते वेदितव्यः स्यात्सर्वं यच्चापि मां प्रति॥ ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च। तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च॥ सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम्। पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः॥ संगत्या भरतः श्रीमान्राज्येनार्थी स्वयं भवेत्। प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः। तस्य बुद्धिं च विज्ञाय व्यवसायं च वानर। यावन्न दूरं याताः स्मः क्षिप्रमागन्तुमर्हसि॥' (वाल्मी० १२५। १४—१८) अर्थात् यह सब सुन लेनेपर भरतकी आकृतिसे हर्ष-शोकादि उनके चित्तका जान लेना तथा हमारे विषयकी जो-जो बातें हों, वह भी जानते आना। मुखके रंगसे, दृष्टिसे, वचनोंसे सब प्रकार भरतके मनकी बातें जान लेना। क्योंकि हाथी, घोड़े, रथ आदि सब पदार्थयुक्त पिता-पितामहादिकोंका राज्य पाकर किसका मन नहीं बदल जाता। यदि इतने दिनोंसे राज्य भोगनेवाले श्रीमान् भरतको राज्य भोगनेकी इच्छा हो तो वे सब पृथ्वीमण्डलका राज्य करें, हम प्रसन्न हैं। उनकी बुद्धि और विचारका हाल जानकर जबतक हम थोड़ी दूर भी न चलें कि तुमको आ जाना चाहिये।

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी तुरंत चल दिये, तब प्रभु भरद्वाजजीके पास गये॥ ३॥ मुनिने अनेकों प्रकारसे पूजा की और स्तुति करके फिर आशीर्वाद दिया॥ ४॥

नोट—१ *'तुरत पवनसुत·······।'* अर्थात् आज्ञा पाते ही चल दिये। शीघ्रता सूचित करनेके लिये ***'पवनसुत'*** पद दिया। अर्थात् पवनवेगसे गये। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा पाकर मनुष्यरूप धारणकर शीघ्र अयोध्यापुरीको चले। वे ऐसे उड़े जैसे सर्पोंके पकड़नेको गरुड़ दौड़ते हैं। यही भाव ***'तुरत'*** पदका है यथा—**'गरुत्मानिव वेगेन जिघृक्षन्नुरगोत्तमम्'** (वाल्मी० १२५। २०)। प्र० स्वामीका मत है कि ये अवधमें सर्वत्र पवित्रता उत्पन्न कर देंगे। अतः ***'पवनसुत'*** नाम दिया। देखिये, हनुमान्‌जी यहाँसे निकले और वहाँ ***'नगर रम्य चहुँ फेर', 'कौसल्यादि मातु सब मन अनंद अस होइ'*** इत्यादि पावन मङ्गल शकुन होने लगे। वहाँ पहुँचनेपर भी पवनसुत नाम दिया है।

नोट—२ ***'नाना बिधि'*** अर्थात् षोडशोपचार पूजन किया। ***'नाना बिधि'*** पद देकर जो-जो अन्य ऋषियोंने पूजनका प्रकार लिखा है, वह सब भी जना दिया। पुनः, ***'नाना बिधि'*** से जनाया कि षोडशोपचारमेंसे प्रत्येक उपचारकी जितनी विधियाँ हैं उन सब विधियोंसे पूजा की—(पं० रा० व० श०)।

नोट—३ ऐश्वर्यपक्षमें स्तुति की और माधुर्यपक्षमें आशीर्वाद दिया। पुनः, स्तुतिसे संकोच हुआ तब आशीर्वाद दिया। स्तुति अ० रा० १४ में श्लो० २१ से ३५ तक है।

अ० रा० में मुनिने कहा है कि आप आदि, अन्त और मध्यसे रहित साक्षात् परब्रह्म हैं। आपने पहले जलको उत्पन्न कर उसमें शयन किया। हे विश्वात्मन्! आप समस्त मनुष्योंके अन्तरात्मा हैं, अतः आप नारायण हैं। ब्रह्माजी आपके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए। आप समस्त लोकोंसे वन्दित सबके स्वामी हैं।·········आप अधिष्ठानरूपसे अपने भीतर ही अपनी मायाके द्वारा स्वयं अपने-आपसे ही सम्पूर्ण जगत्‌को रचते हैं, किन्तु आकाशके समान किसीसे लिप्त नहीं होते। आप अपनी चित् शक्तिसे सबके साक्षी हैं। आप सब प्राणियोंके भीतर-बाहर व्याप्त हैं।······जो कुछ भी देखने-सुनने या स्मरणमें आता है, वह सब आप ही हैं। आपकी शक्तिसे प्रेरित होकर माया सब रचना करती है, इसीलिये इन सबकी रचनाका आरोप आपहीमें किया जाता है। जिस प्रकार चुम्बककी सन्निधिसे लोहा आदि जड़ पदार्थ भी चलायमान हो जाते हैं उसी प्रकार आपकी दृष्टि पड़नेसे जड़, माया सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करती है। **'यथाचुम्बकसान्निध्याच्चलन्त्येवायसादयः। जडास्तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत्॥'** (१४। २९) ·········जो लोग आपके अवतारोंके चरित गाते और सुनते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्माकी प्रार्थनासे आपने अवतार लेकर देवताओंका दुष्कर कार्य किया और सहस्रों वर्ष रहकर लोककल्याणके लिये अनेक पापनाशक कार्य करेंगे।

भरद्वाजजीने रात्रिमें आश्रममें रहनेकी प्रार्थना की। भरद्वाजका आशीर्वाद वाल्मी० १२४ में यह है कि यहाँसे अयोध्या जानेके सारे मार्गके सभी वृक्ष फलनेकी ऋतु न होनेपर भी फलवाले हों, उनके फल अमृत-समान मीठे हों और अधिक परिमाणमें हों। पुष्पहीन वृक्ष पुष्पित हों। सूखे वृक्ष हरे हो जायँ। सब वृक्षोंसे मधु चूने लगे। यथा—**'निष्फलाः फलिनश्चासन्विपुष्पाः पुष्पशालिनः। शुष्काः समग्रपत्रास्ते नगाश्चैव मधुस्रवाः॥'** (२१) पर यह वर माँगनेपर मुनिने दिया है। और अ० रा० १८ में इस प्रकार है—**'बहुवर्षसहस्राणि मानुषं देहमाश्रितः॥ कुर्वन्दुष्करकर्माणि लोकद्वयहिताय च। पापहारीणि भुवनं यशसा पूरयिष्यसि॥'** (३४-३५)

मुनिपद बंदि जुगल कर जोरी। चढ़ि बिमान प्रभु चले बहोरी॥ ५॥
इहाँ निषाद सुना प्रभु आये। नाव नाव कहँ* लोग बुलाए॥ ६॥

अर्थ—दोनों हाथ जोड़कर मुनिके चरणोंकी वन्दना करके प्रभु विमानपर चढ़कर फिर चले॥ ५॥ इधर जब निषादराजने सुना कि प्रभु आ गये तब उन्होंने नाव कहाँ है, नाव कहाँ है? इस प्रकार कहते हुए लोगोंको बुलाया॥ ६॥

* कह—(का०)।

नोट—१ (क) *'मुनिपद बंदि जुगल कर जोरी'*—यह विदा होनेका प्रणाम है। (ख) *'चढ़ि बिमान'* कहा क्योंकि त्रिवेणीपर उतरकर स्नान करना इत्यादि कहा है, यथा—*'बहुरि त्रिबेनी आइ प्रभु हरषित मज्जन कीन्ह।'* (ग) *'चले बहोरी'* का भाव कि इतनी देरतक विमान वहाँ रुका रहा, अब जब प्रभु फिर सवार हुए तब फिर आकाशमार्गसे होकर चला जैसे पूर्व लङ्कासे चला था।

नोट—२ *'इहाँ निषाद सुना प्रभु आये'* इति। यहाँ यह नहीं बताते कि किससे सुना। पूर्व *'प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई'* में इसका संकेत आ गया है। हनुमान्‌जीसे प्रभुने कहा था कि मार्गमें हमारे सखा निषादराजको भी समाचार देते जाना और हनुमान्‌जीने जाकर समाचार कहा, यथा—**'सखायं शृङ्गवेरे मे वृत्तं कथय गूहकम्। तथेति गुहकं गत्वा कपिवृत्तं न्यवेदयत्॥'** (अ० रा० १। १२), **'शृङ्गवेरपुरं गत्वा ब्रूहि मित्रं गुहं मम॥ जानकीलक्ष्मणोपेतमागतं मां निवेदय।'** (अ० रा० सर्ग १४। ३९-४०) [शृङ्गवेरपुरमें जाकर मेरे मित्र गुहको श्रीजानकी और लक्ष्मणसहित मेरे आगमनकी सूचना देना], **'शृङ्गवेरपुरं प्राप्य गृहं गहनगोचरम्॥ निषादाधिपतिं ब्रूहि कुशलं वचनान्मम। श्रुत्वा तु मां कुशलिनमरोगं विगतज्वरम्॥ भविष्यति गुहः प्रीतः स ममात्मसमः सखा॥'** (वाल्मी० १२५। २—४), (जाते हुए तुम शृङ्गवेरपुरमें पहुँचकर निषादराज वनवासी गुहसे मेरी ओरसे कुशल-संवाद कहना। जब वह कुशल सुनेगा, वह जानेगा कि मैं नीरोग हूँ और मेरी चिन्ता दूर हो गयी है तब वह प्रसन्न होगा। वह मेरा मित्र है, हीन जाति होनेपर भी मैं उसे अपने समान ही समझता हूँ)। हनुमान्‌जी वहाँ पहुँचकर गुहसे ये शुभ वचन कहे कि तुम्हारे सत्यपराक्रमी मित्र श्रीरामचन्द्रजीने अपना तथा सीता और लक्ष्मणका कुशल-संवाद तुमसे कहलाया है। भरद्वाज मुनिसे आज्ञा लेकर वे आयेंगे और यहाँ तुमसे भेंट होगी। यथा—**'स वाचा शुभया हृष्टो हनूमानिदमब्रवीत्। सखा तु तव काकुत्स्थो रामः सत्यपराक्रमः॥ ससीतः सह सौमित्रिः स त्वां कुशलमब्रवीत्। ·········भरद्वाजाभ्यनुज्ञातं द्रक्ष्यस्यत्रैव राघवम्॥·········'** (२१—२३)

गोस्वामीजी अपनी लेखनीसे सर्वत्र शीघ्रता दिखाते जा रहे हैं, इसीसे उन्होंने अवधपुर जानेकी बात तो ऊपर कही और वहींके *'बुझाई'* और यहाँके *'इहाँ निषाद सुना'* से श्रीहनुमान्‌जीसे शृङ्गवेरपुरमें जाकर समाचार कहनेकी बात तथा उनका जाकर कहना दोनों ही बड़ी सुन्दरताके साथ इतनेसे ही जना दिया।

नोट—३ *'नाव नाव कहँ लोग बुलाए।'* पु० रा० कु०—मारे हर्षके 'नाव लाओ' यह पूरा वाक्य न कह सके। *'नाव नाव'* में हर्षकी वीप्सा है। (रा० प्र०—यहाँ त्वराकी वीप्सा है।)

बं० पा०—१ वाल्मीकिजीने आजकी रात्रि भरद्वाजाश्रममें निवास करना लिखा है क्योंकि भरद्वाज मुनि हैं तथा अपने (वाल्मीकिजीके) शिष्य हैं और श्रीरामजी भी मुनिवेषमें हैं। गोसाईंजीने दीनताके सम्बन्धसे यह रात्रि शृङ्गवेरपुरमें निषादराजके यहाँ बिताना सूचित किया है क्योंकि इनका दैन्य घाट है। [भक्तमालमें लिखा है कि श्रीरामवियोगमें यह १४ वर्षतक आँखोंमें पट्टी बाँधे रहा। इसीसे ग्रन्थकारने इसीके यहाँ रात्रिमें निवास कहा। प्रातः पञ्चमीको प्रहर दिन चढ़े पूर्व चतुर्दश वर्षपर अवध पहुँचेंगे, एक दण्डका भी बीच नहीं पड़ेगा।]

नोट—४ *'नाव नाव।'* निषादराज यह समझता था कि जैसे यहाँसे वनको जाते समय पैदल गये थे वैसे ही पैदल लौटे होंगे, अतः *'नाव नाव'* पुकारा अर्थात् जल्दी नाव ले चलो, उनको इस पार लाओ। इससे यह भी जनाया कि उसने विमानको आते हुए नहीं देखा और न विमानपर आनेका समाचार सुना है। इस कथनसे भक्तमालकी कथाका भी समानाधिकरण हो जाता है कि आँखें बंद थीं। प्रभुके आनेपर आँखें खुलेंगी।

सुरसरि नाघि जान तब आयो*। उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो॥ ७॥
तब सीता पूजी सुरसरी। बहु प्रकार पुनि चरनन्हि परी॥ ८॥

* जब आवा, पावा—(का०, पं०)।

अर्थ—(इतनेहीमें) विमान गङ्गाको लाँघकर (इस पार) आ गया और प्रभुकी आज्ञा पाकर वह तटपर उतरा॥ ७॥ तब श्रीसीताजीने गङ्गाजीकी बहुत तरहसे पूजा की और फिर बहुत तरहसे चरणोंपर पड़ीं॥ ८॥

नोट—१ *'उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो',* इस पदसे यह भी जना दिया कि यह विमान दिव्य है। इसमें अपने-आप चल-फिर सकनेकी शक्ति है, चेतनकी तरह यह भी सुनता है। उत्तरकाण्डमें भी यही बात दिखायी है। प्रभुकी आज्ञा पाकर वह स्वयं कुबेरके पास गया। यथा—*'उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहि तुम्ह कुबेर पहिं जाहु। प्रेरित राम चलेउ सो हरष बिरह अति ताहु॥'*

नोट—२ *'तब सीता पूजी सुरसरी।'''''* इति। (क) शृङ्गवेरपुरसे प्रयागको चलते समय श्रीजानकीजीने मनौती मानी थी कि पति और देवरसहित मैं सकुशल लौटूँ तो तुम्हारी पूजा करूँगी। यथा—*'सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥ पति देवर सँग कुसल बहोरी। आइ करउँ जेहि पूजा तोरी॥'* (२। १०३)

उस मनौतीका पूजन लङ्कासे लौटते समय ही यहाँ उन्होंने किया। वाल्मीकि आदि कई रामायणोंमें इस समय पूजन नहीं है; वरन् इसी मिषसे अन्तमें (सीता-त्याग-समय) सीताजी श्रीअवधसे वाल्मीकि-आश्रममें पहुँचायी गयीं। मानसमें पूजा इसी समय हो गयी है अतः अन्तमें वियोगकी कथा भी नहीं है।

'तब' अर्थात् विमानके तटपर उतरनेपर। पंजाबीजी लिखते हैं कि *'आयसु पायो' 'सीता'* के साथ है क्योंकि पतिव्रता बिना आज्ञा किसी देवकी पूजा नहीं कर सकती। (ख)—पूजनके सम्बन्धसे सुरसरी पद दिया। अर्थात् ये देवनदी हैं, देव रूप ही हैं। (ग)—*'बहु प्रकार'* इति। मन-वचन-कर्मसे पूजन किया, चरणोंमें पड़ीं, वह वन्दनाकी सीमा है। वाल्मीकीयमें मनौती मानते समय जिस प्रकार पूजन करनेको कहा था, वह सब प्रकार यहाँ *'बहु'* पदसे जना दिया। (रा० प्र०)

रा० प्र०—प्रकाशित सरस्वतीको छोड़ अन्य नदियोंमें पार जानेपर स्नानकी विधि है। अतः सुरसरि पार आनेपर स्नान-पूजा करना कहा।—[नहीं तो मनौती तो उसी (दक्षिण) तटपर मानी थी उसी तटपर पूजा करतीं तब इधर आतीं।]

पां०—एक बार पूर्व पूजन कर चुकी थीं अब दूसरी बार पूजन करती हैं अतः *'पुनि'* पद दिया। [पुनिका भाव यह भी है कि पूजा करनेपर तब अन्तमें चरणोंमें पड़ीं।]

पु० रा० कु०—*'पुनि चरनन्हि परी'* इति। श्रीजानकीजीने मूर्तिकी पूजा की। उनके मूर्तिका अनुसंधान है, इसीसे चरणपर पड़ना कहा।

प० प० प्र०—*'तब सीता पूजी''''''''* इति। इसमें १५-१५ मात्राओंके चरण हैं। मात्राकी न्यूनताद्वारा जनाया कि पूजा करते समय श्रीसीताजीका हृदय अनेक भावोंसे भर गया, वे मनमें ही विचार कर-करके स्तुति कर रही हैं कि 'हे देवि! आपके आशिषसे ही मैं पति और देवरसहित कुशल लौटकर आपका दर्शन कर रही हूँ। आपके ही आशीर्वादके कारण श्रीलषनलाल जीवित हो गये और आर्यपुत्रको जय प्राप्त हुई। आपके उपकारोंसे मैं उऋण नहीं हो सकती, अतः *'बँदउँ तव पद बारहिं बारा।'* निरन्तर ऐसी ही कृपादृष्टि बनाये रखियेगा।' मन-ही-मन इस तरह विविध प्रकारसे स्तुति कर कृतज्ञतापूर्वक बार-बार चरणोंमें पड़ रही हैं। इसीसे स्तुति करना नहीं लिखा। कण्ठ गद्गद है, नेत्र आनन्दाश्रु देवीके चरणोंपर बहा रहे हैं, शरीर रोमाञ्चित हो रहा है, कभी-कभी बीच-बीचमें स्तम्भित हो जाती हैं, अञ्चल पसार-पसारकर प्रणाम करती हैं। इत्यादि दशा अवर्णनीय है, यह जनानेके लिये ही मात्रामें कमी की गयी।

दीन्हि असीस हरषि मन गंगा। सुंदरि तव अहिवात अभंगा॥ ९॥
सुनत गुहा धाएउ प्रेमाकुल। आएउ निकट परम सुख संकुल॥ १०॥

अर्थ—गङ्गाजीने प्रसन्न मनसे आशीर्वाद दिया कि 'हे सुन्दरी! तुम्हार सुहाग अखंड (अचल) हो'॥ ९॥ (श्रीरामचन्द्रजीका तटपर उतरना) सुनते ही निषादराज गुह प्रेमातुर होकर दौड़ा और परमानन्दसे परिपूर्ण होकर वह प्रभुके निकट आया॥ १०॥

नोट—१ *'दीन्हि असीस हरषि मन गंगा'* इति। (क) गङ्गाजीका आशीर्वाद देना उसी प्रकार है जैसा पूर्व अयोध्याकाण्डमें कह आये हैं अर्थात् मध्य गङ्गाजीमेंसे ये शब्द सुनायी दिये। यथा—*'सुनि सिय बिनय प्रेम रस सानी। भइ तब बिमल बारि बर बानी॥'* (अ० १०२। ४), *'भरत बचन सुनि माँझ त्रिबेनी। भइ मृदु बानि सुमंगल देनी॥'* (अ० २०५। ६) (ख) *'हरषि मन'* से जनाया कि तुमको आशीर्वाद देनेमें मेरी वाणीकी सफलता है। आप नित्य हैं अतः अचल अहिवातका आशीर्वाद सत्य होगा। दूसरे, सर्वेश्वरी होकर हमको बड़ाई दी है, यह समझकर हृदयमें हर्ष है। यथा—*'तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥ तदपि देबि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥'* (२। १०३। ७-८) तीसरे, आशीर्वाद प्रसन्न मनसे हो तभी सफल होता है अतः *'हरषि दीन्हि'* कहा।

पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रादिके दर्शनसे हर्ष हुआ है और बिना प्रसन्नताके आशीर्वाद दिया नहीं जाता अतएव *'हरषि'* कहा। अथवा, औरोंके आशीर्वादमें अर्थवाद भी होता है पर सीताका सुहाग अभङ्ग कहना यह सत्य ही है, यह जानकर प्रसन्न हुईं और आशिष दीं।

नोट—२ *'परम सुख संकुल'* इति। चौदह वर्षके वियोगके बाद पुनर्मिलन हुआ, इसीसे परमानन्दपूर्ण है। पंजाबीजीका मत है कि *'परम सुख संकुल'* है, क्योंकि सुना कि प्रभु बड़े प्रताप-सहित विमानपर सवार वानरराज और लंकेशादि-सहित आये हैं।

प्रभुहि बिलोकि सहित* बैदेही। परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही॥ ११॥
प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥ १२॥

अर्थ—वैदेहीसहित प्रभुको देखकर वह पृथ्वीपर पड़ गया अर्थात् उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, उसको अपने शरीरकी सुध-बुध न रह गयी॥ ११॥ उसका परम प्रेम देख श्रीरघुनाथजीने प्रसन्न होकर उसे उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया॥ १२॥

पां०—निषादराजको सीताहरणकी खबर मिली थी, इसीसे यहाँ *'बिलोकि बैदेही'* पद दिया।

नोट—१ *'परेउ अवनि.........'* इति। (क) प्रेमकी बाहुल्यतासे सुध-बुध न रही। परम प्रीति देखकर पृथ्वीसे उठा लिया, क्योंकि रघुराई प्रीतिकी रीतिको जानते हैं, यथा—*'जानत प्रीति रीति रघुराई।'* इति (विनय०) (रा० प्र०) *'नाव नाव कहँ'*, *'धाएउ प्रेमाकुल'*, *'आएउ निकट परम सुख संकुल'*, *'परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही'* यह सब *'परम प्रीति'* है, जो प्रत्यक्ष सबने और श्रीरामजीने भी देखा। इसीसे *'बिलोकि'* शब्द दिया। (ख) *'रघुराई'* शब्दका भाव कि गुह निषादराज हैं, अतः उनसे सखा-भावसे ही मिले, राजा राजासे मिलते हैं वैसे ही ये मिले। (प० प० प्र०)

बं० पा०—*'हरषि उठाइ लियो उर लाई।'* भाव कि हे प्राणप्यारे! तुम्हारा शरीर भूमिमें लोटने लायक नहीं है, तुम मेरे परम समीपवर्त्ती सखा हो, मेरे हृदयमें बसते हो; पृथ्वीसे उठकर हृदयमें ही निवास करो।

नोट—२ निषादका परम प्रेम उसके प्रणाममें देखा; अतः आपने अपना परमप्रेम उसके उठानेमें दिखाया। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** इस अपने वाक्यको चरितार्थ किया। आगे भाई भरतकी तरह इसको हृदयमें लगाना कविने कहा है, यथा—*'सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो।'* अतः भरतमिलाप-प्रसङ्गके भाव यहाँ भी सूचित कर दिये। इस प्रकार *'हरषि उठाइ लियो'* से जनाया कि बरबस एवं बड़े प्रेमसे उठाकर हृदयमें लगाया, यथा—*'बल करि कृपासिंधु उर लाए।'* ☞ परम समीप बिठाये जानेका सौभाग्य तो हनुमान्‌जीके बाद इन्हींको प्राप्त हुआ है, यह भाग्य सुग्रीव और विभीषणजीको भी मिलते समय नहीं प्राप्त हुआ है। सुं० ३३ (४) देखिये।

श्रीभरतजी	श्रीनिषादराजजी
नमत जिन्हहिं सुर मुनि संकर अज	१ **बिरंचि संकर सेव्य जे**

* 'प्रभुहि सहित बिलोकि'—(भा० दा०, द्वि०)। उपर्युक्त पा० का० का है

परे भूमि………	२ परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही
नहिं उठत उठाये	३ हरषि उठाइ लियो उर लाई
बल करि कृपासिंधु उर लाए। अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहिं मिले	४ लियो हृदय लाइ कृपानिधान
बूझत कृपानिधि कुसल	५ बूझी कुसल सो कर बीनती
अब कुसल कोसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।………।	६ अब कुसल पदकंज बिलोकि

इसी तरह चित्रकूटमें भरत-मिलापसे मिलान करें।

भूतल परे लकुट की नाईं	१ परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही
परम प्रेम पूरन दोउ भाई	२ प्रीति परम बिलोकि रघुराई
बरबस लिए उठाइ उर लाये	३ हरषि उठाइ लियो उर लाई
कृपानिधान	४ लियो हृदय लाइ कृपानिधान

छं०—

लियो हृदय लाइ कृपानिधान सुजान राय रमापती। बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती॥
अब कुसल पद-पंकज बिलोकि बिरंचि संकर सेव्य जे। सुखधाम पूरनकाम राम नमामि राम नमामि ते॥
सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो। मतिमंद तुलसीदास सो प्रभु मोहबस बिसराइयो॥
यह रावनारि चरित्र पावन रामपदरतिप्रद सदा। कामादिहर बिज्ञान-कर सुरसिद्धमुनि गावहिं मुदा॥

अर्थ—सुजानोंके सिरताज कृपानिधान रमापति रामचन्द्रजीने निषादको हृदयसे लगा लिया। फिर अत्यन्त निकट बिठाकर कुशल पूछी। वह विनती करने लगा—आपके जो चरणकमल ब्रह्मा और शङ्करजीसे सेवित हैं, उनको देखकर अब मैं कुशल हूँ। हे सुखधाम! हे पूर्णकाम रामचन्द्रजी! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ अर्थात् बारम्बार मेरा आपको नमस्कार है। सब प्रकारसे नीच उस निषादको भगवान् रामचन्द्रजीने श्रीभरतकी तरह (अर्थात् जैसे सगे भाई भरतको हृदयसे लगाया था उसी तरह) हृदयसे लगा लिया। तुलसीदासजी (मनको सम्बोधन करते हुए) कहते हैं कि अरे मन्दबुद्धि! ऐसे प्रभुको तूने मोहवश होकर भुला दिया। रावणके शत्रुका यह पावनचरित रामचन्द्रजीके चरणोंमें सदा प्रेमका देनेवाला है, यह कामादि (विकारों वा शत्रुओं) का नाशक और विज्ञानका उत्पन्न करनेवाला है। देवता, सिद्ध और मुनि इसे प्रसन्नतापूर्वक गाते हैं।

टिप्पणी—(क) कृपानिधान हैं, अतः रमापति होकर भी नीच निषादको हृदयसे लगाया। सुजान हैं, अतः उसके प्रेमको यथार्थ जानते हैं, यथा—*'जानत प्रीति रीति रघुराई'* एवं *'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* (पं०) पुनः; (ख)—उसके प्रेमको जानकर हृदयसे लगाया। अतः *'कृपानिधान'* कहा। पुनः भाव कि साधारण श्रीमान् ऐसा नहीं कर सकते, पर इन्होंने ऐसे नीचको हृदयसे लगा लिया, क्योंकि ये तो श्रीपति हैं—(पं०)। (ग)—*सुजान राय*=सुजानशिरोमणि। यथा—*'यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ॥'* (१। २८। १०) [पां०—*'सुजान'* विशेषण देनेका भाव कि किसीका किया हुआ उपकार नहीं भूलते।]

नोट—(१) *'अब कुसल पद पंकज बिलोकि………।'* इति। अबका भाव कि इसके पूर्व कुशल कहाँ थी, कुशल तो अब आपका दर्शन होनेपर हुई। कुशल तो आपके वनगमनके साथ ही चली गयी थी, अब आपके आनेपर आ गयी। मिलान कीजिये—*'बूझब राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गुसाईं॥ नाहिं त कोसलनाथ के साथ कुसल गइ नाथ।'* (अ० २७०) (२)—*'सुखधाम पूरनकाम………।'* इति। भाव कि आप सुखधाम हैं। अतः मुझे सुख दीजिये, पूर्णकाम हैं अतः मेरी कामनाएँ पूर्ण कीजिये।

टिप्पणी—१ *'नमामि राम नमामि ते'* इति। *'नमामि'* में लङ्काकाण्डकी समाप्तिका प्रसङ्ग समाप्त हुआ। आगे ग्रन्थकार अपने मनको साक्षी करते हैं और इस बहाने सब प्राणियोंको सावधान करते हैं। टिप्पणी—२

'सब भाँति अधम'; यथा—*'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥'* (२। १९४। ३) अर्थात् जीवहिंसक है, चतुर्वर्णसे बाहर है, अन्त्यज है। टिप्पणी—३ *'भरत ज्यों'* इति। भरतजीकी समता कहकर निषादके स्नेहकी बड़ाई की।

टिप्पणी—४ (क) *'मतिमंद तुलसीदास'* के भाव—(१) तुलसीदासजी कहते हैं कि मतिमंद हैं वे। (२) मुझ तुलसीदासने कि जो मतिमंद है। (३) जो तुलसीदासकी तरह मतिमंद हैं, वे। (४) तुलसीदासजी अपने मनको सम्बोधन करते हैं कि 'रे मतिमंद! तूने'। (ख) परम कृपालु तथा ब्रह्मादिकके भी जो स्वामी हैं, उनको मोहवश भुलाया इसीसे *'मतिमंद'* कहा। [करु०—यहाँ यह ध्वनि है कि जो श्रीरामचन्द्रजीको विसारते हैं, वे मोहके वश और मन्दबुद्धि हैं।] टिप्पणी—५ 'यह रावणारि-चरित्र'। अर्थात् हाथ उठाकर कहते हैं। यह अङ्गुल्यानिर्देश है। भुजा उठाकर कहते हैं कि यह चरित्र पावन एवं पवित्रकर्ता है। टिप्पणी—६ *'कामादिहर बिज्ञानकर.........'* इति। कामादि विकार भक्ति और ज्ञानके मार्गमें विघ्नकारी हैं, अतः जब इनका नाश हो तभी ज्ञान और भक्ति सिद्ध होती हैं। यथा—**'भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे कामादिदोष-रहितं कुरु मानसं च।'** वा, (ख) सुर, सिद्ध, मुनि यहाँ तीन नाम दिये और 'कामादिहर, विज्ञानकर, रामपदरतिप्रद' भी तीन कहे। सुर विषयी होते हैं, इनको ज्ञान नहीं भाता, अतः इनके लिये *'कामादिहर'* कहा, यथा—*'इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। बिषयभोग पर प्रीति सदाई॥'* सिद्धोंको रामपदरतिप्रद है और मुनियोंको विज्ञानकर है।—*'कामादिहर'* इत्यादि गुण जानकर सुर, सिद्ध, मुनि इसे आनन्दपूर्वक गाते रहते हैं।

रा० प्र०—*'रावणारि'* का भाव कि जो अजेय था, जिसके बन्दीखानेमें इन्द्रादि पड़े थे और जिसको विष्णुभगवान् भी न जीत सके थे उसको जीतनेवाले हैं।

प० प० प्र०—*'कामादि हर बिज्ञान कर..........'* इति। इस काण्डके उपक्रममें बताया जा चुका है कि बाल मं० श्लोक ५ व ६ मिलकर सुन्दर और लङ्का दोनों काण्डोंके प्रतिनिधिरूप हैं।

यहाँ उपसंहारमें *'रावणारि'* और *'कामादिहर'* से जनाया कि प्रथम विद्यारूपिणी श्रीसीताजीकी कृपासे अहङ्कार, मोह, काम-क्रोध-लोभादिका विनाश होकर विज्ञानकी प्राप्ति होगी, पश्चात् श्रीरामजीकी कृपासे रामपदरतिकी प्राप्ति होगी। और आगे दोहेमें बताया है कि कलिकालमें नामका आधार लिये बिना यह कुछ भी न होगा। रामपदरतिसे स्वान्तःसुखकी प्राप्ति होती है, यह अगले काण्डके उपक्रमोपसंहारादिमें बताया है।

वीर—१ यहाँ निषादराजने कुशलका कारण बहुत ही मनोहर कहा। यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। २—रावणारि-चरित्र पवित्र है, यह एक विशेष वर्णन है। इसकी रामपदप्रीति देनेवाला इस सामान्यसे पुष्टि और फिर कामादिहर, विज्ञानकर जिसे देवता, सिद्ध, मुनि गाते हैं, इस विशेषसे पुष्टि 'विकस्वर अलङ्कार' है।

दो०—समर* बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान।
बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहि भगवान्॥१२०॥ (रा)

अर्थ—जो चतुर लोग श्रीरघुवीरके रणसम्बन्धी विजयचरित्र सुनते हैं, उन्हें भगवान् रामचन्द्रजी नित्य विजय, विवेक और ऐश्वर्य देते हैं†॥ १२०॥

टिप्पणी—१ प्रथम अर्द्ध-छन्दमें माहात्म्य कहा, फिर यहाँ दोहेमें भी माहात्म्य कहते हैं। दो बार कहनेका भाव कि—(क) प्रथम पारलौकिक फलदायकत्व कहते हैं। अथवा, (ख)—छन्दमें श्रीशिवादि वक्ताओंकी इति लगायी और अब दोहेमें अपने दैन्यघाटकी इतिश्री लगाते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'समर'* से रावण-कुम्भकर्णादि सबके समर जनाये। (रा० प्र०) (ख) *'बिजय बिबेक बिभूति'* तीन पदार्थोंका देनेवाला कहकर जनाया कि विषयीको विभूति, साधकको विवेक और सिद्धको संसार-रिपुपर विजय देनेवाला है। अर्थात् हरिभक्ति प्राप्त होती है। यथा—*'बिरति चर्म असि ज्ञान*

* समर विजय रघुपति चरित सुनहिं जे सदा सुजान—(का०)।
† यहाँ प्रथम निदर्शना और वृत्त्यनुप्रासकी संसृष्टि है—(वीर)।

मद लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सो हरिभगति देखु खगेसु बिचारि॥' [पंजाबीजीका मत है कि *'विवेक.......'* कथनका भाव यह है कि दुष्टोंका वध सुननेसे उनके पाप नष्ट होंगे और प्रभुके मुखसे कहे हुए तत्त्वके वाक्योंके श्रवणसे ज्ञान (विवेक) होगा तब सब सुख भोगकर वे मुक्तिके भागी होंगे। (ख) *'नित'* का भाव कि जीव और कामादिका युद्ध नित्य ही होता रहता है। अतः चरितको नित्य सुनते रहनेसे नित्य विजय प्राप्त होती रहेगी। [पं० रा० व० श०] (ग) *'भगवान'* का भाव कि श्रीरघुनाथजी भगवान् हैं, इसीसे रावणको जीतकर विभूतिको प्राप्त हुए।—यहाँ विवेक मिला। सब (प्रकारके) मोहपर विजय हुई तब जीव नित्य विभूतिको प्राप्त होता है। [दोहेमें मानसकार आशीर्वाद देते हैं कि श्रीरघुनाथजी भगवान् (अर्थात् षडैश्वर्ययुक्त) हैं, वे क्या नहीं दे सकते? जिसकी जो इच्छा होती है, वह देते हैं। (खर्रा)]

नोट—वाल्मी० १२८ में काण्डके नियमसे सुननेका फल यह दिया है—

'कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं स्त्रियश्च मुख्याः सुखमुत्तमं च।
श्रुत्वा शुभं काव्यमिदं महार्थं प्राप्नोति सर्वां भुवि चार्थसिद्धिम्॥' (१२१)
'आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिराख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः॥' (१२२)

अर्थात् इस शुभ काव्यके सुननेसे कुटुम्बवृद्धि, धनधान्यवृद्धि, उत्कृष्ट स्त्री, उत्तम सुख और पृथ्वीपर समस्त अर्थसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह काव्य आयु, आरोग्य, यश, भ्रातृप्रेम और शुभ तथा सुन्दर बुद्धि देता है, अतएव समृद्धिके इच्छुकोंको ओज देनेवाले इस काव्यका नित्य श्रवण करना चाहिये।—मानसके *'सुनहिं सुजान', 'बिबेक', 'बिभूति'* क्रमशः वाल्मीकीयके **'श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिः', 'बुद्धिकरम्'** और **'कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं स्त्रियश्च मुख्याः'** महार्थ, आयु, आरोग्य, यश हैं। विजयके बदलेमें सुख है।

दो०—यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ* नाम तजि नाहिंन आन अधार॥१२०॥ (म)

अर्थ—अरे मन! विचार करके देख। यह कलिकाल पापोंका निवासस्थान (घर) है। इसमें श्रीरघुनाथजीका नाम छोड़ और कोई आधार (प्राणीके लिये) इससे बचनेका नहीं है॥ १२०॥

नोट—१ *'यह कलिकाल'* इति। *'यह'* शब्द अङ्गुल्यानिर्देशात्मक है। इससे कवि अपने समयके वर्तमान कलियुगका निर्देश करते हैं। काण्डके अन्तमें कवि भुजा उठाकर तर्जनी उँगलीद्वारा कालका निर्देश करके अपना सिद्धान्त कहते हैं। (पं० रा० कु०) (ख) *'मलायतन'* अर्थात् पापका घर है, निवासस्थान है, पाप इसी युगमें निवास करते हैं। भाव यह कि अन्य युगोंमें वे सैर-तमाशेके लिये कुछ दिनके लिये और वह भी कहीं-कहीं चले जाते हैं पर उनको घर नहीं बना सकते, न वहाँ विशेष टिक सकें, इसी युगको पापोंने निवासस्थान बनाया है, यहाँ वह सदा और सर्वत्र रहता है। मिलान कीजिये—*'कलि केवल मल मूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन मीना॥'* (१। २४। ४) इसका सब भाव *'मलायतन'* कहकर जना दिया। पुनः, भाव कि जिस प्रकार ऋतुचक्र चलता है। हिम-ऋतुमें जाड़ा पड़ता है, ग्रीष्ममें गरमी पड़ती है, पावसमें जलकी वर्षा होती है, इसी प्रकार युगचक्र चलता है। सत्ययुगमें सत्त्वगुणकी प्रबलता रहती है, त्रेतामें कुछ रजोगुण भी आ जाता है और द्वापरमें रजोगुण बहुत बढ़ जाता है। इस प्रकार कलियुगमें तमोगुणका बाहुल्य होता है। यथा—*'नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे॥ सुद्ध सत्त्व समता बिज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥ सत्त्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा। बहु रज स्वल्प सत्त्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥ तामस बहुत रजोगुण थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥'* (७। १०४) (ग) *'मन करि देख बिचार'* इति। भाव कि यदि तू विचार करेगा तो तेरी समझमें आ जायगा कि जो मैं कह रहा हूँ कि यह कलिकाल मलायतन है और

* श्रीरघुनायक नाम तजि नहिं कछु आन अधार—(का०, पं०)।

इसमें भवतरणोपाय नाम छोड़ दूसरा नहीं है, यह सत्य है। [इस तरह इस काण्डकी समाप्ति करते हुए मनको कलिकालका त्रास दिखाकर प्रभुकी शरणपरायणताका उपदेश करते हैं—(पं०)]। (घ) *'श्रीरघुनाथ नाम तजि'* इति। रघुनाथ नामसे प्रायः श्रीरामनाम अभिप्रेत है। रघुनाथ नाम कहकर जनाया कि ये ही ब्रह्म राम हैं, दूसरे नहीं। उत्तरकाण्डकी समाप्तिमें भी 'रघुनाथ नाम' शब्द आये हैं। यथा—**'मत्वा तद्रघुनाथ-नामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये।'** *'श्री'* अर्थात् जो श्रीयुक्त हैं, ऐश्वर्यसम्पन्न हैं। अथवा *'श्रीरघुनाथ'* में श्रीसीतासहित रघुनाथजीका नाम जनाया। पंजाबीजीका मत है कि *'श्रीरघुनाथ'* से श्रीरामचन्द्रजी, श्रीसीताजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी सभीको सूचित किया है। (ङ) *'नाहिन आन अधार'* इति। भाव यह कि कलिमें तमोगुणका बाहुल्य होनेसे योग, यज्ञ और ज्ञानादि साधनोंके लिये यह समय प्रतिकूल है। ये सफल नहीं होने पाते। ये सब तो अपने प्राण लेकर भाग गये। यथा—*'कलि न बिराग जोग जाग तप त्याग रे।'* (वि० ६७), *'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे।'* (वि० ६६), *'जप तप तीरथ जोग समाधी। कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी॥ करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥'* (वि० १२८), *'जोग जाग जप बिराग तप सुतीरथ अटत। बाँधिबे को भवगयंद रेनु की रजु बटत॥'* (वि० १२९), *'एहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रमफलनि फरो सो। तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो॥ पाइहि पै जानिबो करम फल भरि भरि बेद परो सो। आगम बिधि जप जोग करत नर सरत न काज खरो सो॥ सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरो सो। काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो॥ बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो। तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो। राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥'* (वि० १७३), *'धर्म सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग बिराग लै जीव पराने।'* (क० ७। १०५) मानसमें अन्यत्र भी यही कहा है, यथा—*'कलिजुग जोग न जग्य न ज्ञाना। एक अधार राम गुन गाना॥'''''''''सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥'* (७। १०३। ५—७), *'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥'* (१। २२। ८)—मनको इस तरह समझानेका भाव कि तू इसी एक साधनमें लग जा, अन्य साधनोंका सहारा लेनेसे भवपार होना कठिन है।

पा० प०—इस काण्डमें भयानक, रौद्र और हास्यरस प्रधान हैं, यह षष्ठ सोपान वेदान्त-शास्त्ररूप है।

वं० पा०—१ प्रथम दोहेमें चरित्रका माहात्म्य कहा कि षडैश्वर्यवान् रामजी विजय, विवेक और विभूति-ये तीनों ऐश्वर्य श्रोताको देते हैं। अब दूसरे दोहेमें नाम-माहात्म्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि मुख्य यही है कि चरित कहो और नाम जपो।

वं० पा०—२ लङ्काकाण्डका आरम्भ नाम-माहात्म्यसे किया, यथा—*'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं'* और नाम-माहात्म्यपर ही समाप्ति की, यथा—*'श्रीरघुनाथ नाम तजि''''''''।'* *'नाथ नाम तव सेतु'* उपक्रम है और *'श्रीरघुनाथ नाम''''''''''।'* उपसंहार। नामपर उपक्रम उपसंहारका हेतु यह कि परमार्थ-साधन अन्य कोई नहीं रह गया।

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने
विमलविज्ञानसंपादनो नाम षष्ठः सोपानः।

अर्थ—इस प्रकार कलिके समस्त पापोंका नाश करनेवाला श्रीरामचरितमानसमें निर्मल विज्ञान-सम्पादन करनेवाला यह छठा सोपान समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

═══****═══